॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

८४

(काव्यविभागे (१२) द्वादशं पुष्पम्)

महाकविकालिदासविरचितं

रघुवंशमहाकाव्यम्

'सञ्जीविनी' 'सुधा' 'इन्दु' व्याख्यात्रयोपेतम्

टीकाकारः—

पण्डित श्रीब्रह्मशङ्करमिश्रः साहित्यशास्त्री

આ. શ્રી વિજય પ્રેમસૂરિ જૈન જ્ઞાન ભંડાર

प्रकाशकः—

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी - १

(सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)

संक्षिप्त कथासार

प्रथम सर्ग

महाराज दिलीप ने एक नयनानन्दजनक पुत्र के बिना सारे जगत् को ही समझ कर अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ गुरु वसिष्ठ जी के पास जाकर क 'भगवन् ! आपकी दया से सब आनन्द है किन्तु आपकी पुत्रवधू इस सुदक्षि सन्तति-विहीन देखकर राज्यलक्ष्मी भी मुझे अच्छी नहीं लगती। इस संसार जाने पर मेरे पितर लोग पिण्डरहित होकर निराश हो जायेंगे। प्रभो ! शोकाकुल देखकर आपको क्या दया नहीं आती ?' वसिष्ठजी ने सन्तति-निरोध का रहस्य राजा से कहा—'पूर्व जन्म में इन्द्र का उपस्थान कर लौटते समय आपने अपनी ध के पास आने की त्वरा से मार्ग में सुरभि (गौ) को पूजित नहीं कर अप किया। अतः उसने शाप दे दिया। इसीलिए आपको सन्तति नहीं होती। सु अभी पाताल चली गई है किन्तु उसकी पुत्री नन्दिनी यहीं है। उसकी आरा आप सफल-मनोरथ हो सकते हैं।'

द्वितीय सर्ग

गुरु वसिष्ठजी की आज्ञा से महाराज दिलीप नन्दिनी गौ की सेवा करने परिचर्या करते-करते महाराज दिलीप के इक्कीस दिन बीत गये। एक दिन दि भक्ति का परीक्षा करने के लिए कैलास की गुफाओं में घुसकर मायानिर्मित (बनाव से आक्रान्त होकर नन्दिनी बहुत जोर से चिल्ला उठी। उसकी करुण आवाज सुन ही उसको मारने के लिए राजा दिलीप तरकस से बाण निकालने लगे, इतने बोला—'हे राजन् ! भगवान् शङ्कर की दया से आप मेरा एक भी बाल बाँका सकते।' इस बात को सुनकर राजा ने कहा—'हे मृगेन्द्र ! भगवान् शङ्कर वसिष्ठजी दोनों ही मेरे पूज्य हैं। दोनों का आदर करना मेरा कर्तव्य है। इस नन्दिनी को छोड़कर मेरे ही शरीर से तुम अपनी भूख मिटा लो।' यह नन्दिनी ने कहा—'भद्र ! गुरु की दया से मुझ में जो तेरी अटूट भक्ति है उस ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। वर माँगो।' दिलीप ने कहा—'मातः ! मुझे वीर पुत्र 'तथास्तु' कहकर 'मेरा दूध पीओ' ऐसी उसने आज्ञा दी और गोदुग्ध पान सुदक्षिणा गर्भवती हुई

तृतीय सर्ग

।रण कर सुदक्षिणा ने समय पूर्ण होने पर शुभ मुहूर्त में पुत्र को जन्म दिया। के जन्मकाल में सभी वस्तुएँ प्रसन्नतामय दीखने लगीं। दिलीप ने उसका 'रघु' । रघु चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगे और थोड़े ही दिनों में सभी कला-कौशल एवं ं पारंगत हो गये। जवान होने पर राजा दिलीप ने उनका विवाह कराकर उन्हें द पर नियुक्त कर सौवाँ अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ करके उसकी पूर्ति के लिए रघु को कर दिग्विजय के लिए अश्व छोड़ा। इन्द्र ने उसी अश्व को चुरा लिया। घोड़े के से राजकुमार रघु चकित हो उठे। उसी समय कहीं से चरती हुई नन्दिनी वहाँ [उसके मूत्र से आँखों को पोंछ कर सामने से घोड़ा चुराकर ले जाते हुए इन्द्र को हो उठे और बाण-प्रक्षेप से इन्द्र की बाँह को बेधकर इन्द्रध्वज को काट डाला। ृद्ध होकर इन्द्र ने रघु पर वज्र चलाया, परन्तु उससे आहत होकर भी रघु युद्ध नहीं हुए। उनकी इस बहादुरी पर प्रसन्न होकर इन्द्र बोले—'इतने कठोर मेरे म्हारे सिवाय दूसरे किसी ने भी सहन नहीं किया था इसलिए घोड़े को छोड़कर ई वर माँगो।' रघु ने कहा—'यदि आप घोड़ा नहीं देना चाहते तो मेरे पिताजी मेध यज्ञ नहीं करके भी उसके फलभागी हों यह वर दें।' इन्द्र 'तथास्तु' कहकर गये। बाद में राजा दिलीप ने रघु जैसे वीर पुत्र को छाती से लगाकर प्यार : उन्हें राजगद्दी पर बैठा कर तपोवन चले गये।

चतुर्थ सर्ग

की राज्यशासन-प्रणाली से अत्यन्त प्रभावित होकर थोड़े ही दिनों में सारी प्रजा ो भूल सी गई। न्यायपूर्वक प्रजापालन करते हुए उनके गुणों से आकृष्ट होकर र सरस्वती दोनों ही रूपान्तर ग्रहण कर उनके पास आ गयीं। एक दिन दिग्वि- की भावना से महाराज रघु सेनाओं को सजाकर पूर्व दिशा की ओर चल पड़े। ाजाओं को धर्षित करते हुए वे कलिङ्ग देश की ओर चले। कलिङ्गों से घोर आ। अन्त में रघु ने कलिङ्गराज को पकड़ कर उसकी प्राणदान की प्रार्थना मान छोड़ दिया। फिर समुद्र-तट के रास्ते से दक्षिण की ओर जाकर पाण्ड्यों को (बीच के अत्यन्त बीहड़ पर्वतीय रास्तों को पार कर केरल देश की ओर चले। र पारसियों को जीतकर उत्तर दिशा की ओर जाते हुए पहले हूण देश में पहुँचे। ों को भी लड़कर पराजित कर दिया। कम्बोजवासियों ने तो रघु का नाम सुनते े आत्मसमर्पण कर दिया। बाद में बड़ी सेना के साथ वे कैलास पर्वत पर चढ ँ पर भी पर्वतीयों के साथ युद्ध करते बहुत से महत्त्वपूर्ण स्थानों को जीत कर ग्येश्वर की ओर बढ़ चले। परन्तु जब वह उनके तेज को नहीं सहन कर सका

तब कामरूप की ओर आकर उनसे सत्कृत होकर महाराज रघु अयोध्या वापस लौट आये और सब दिशाओं को जीतने के उपलक्ष्य में बहुत धूमधाम के साथ पुष्कल दक्षिणा देकर उन्होंने विश्वजित् नामक यज्ञ सम्पन्न किया।

पञ्चम सर्ग

महात्मा रघु के समक्ष आकर कौत्स ने कहा—'राजन्! मेरी विद्या के अनुसार गुरु-दक्षिणा में १४ कोटि सुवर्ण मुद्राएँ लाने के लिए गुरु वरतन्तु ने आज्ञा दी है लेकिन आपकी गरीबी देखकर मैं तो अत्यन्त निराश हो गया हूँ।' यह सुनकर रघु ने उनसे कहा-'भगवन्! कुछ काल मेरी यज्ञशाला में आप ठहरने की कृपा करें, मैं तब तक उसके लिए भरसक चेष्टा करता हूँ।' इस तरह उनको आश्वासन देकर कुबेर से धन लेने की कामना से महाराज रघु एक रथ पर शस्त्रों को सजाकर रात में उसी पर सो गये। सबेरे खजाञ्ची ने खजाने में अकस्मात् स्वर्णवर्षण की बात कही। यह सुनकर राजा ने कौत्स को बुलाकर सारी स्वर्णराशि दे दी। कौत्स ने बड़ी प्रसन्नता से गुरु को देने योग्य धन लेकर राजा रघु को आशीर्वाद देते हुए कहा—'राजन्! आपके लिए कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं है इसलिए आप अपने स्वरूप के अनुरूप पुत्र प्राप्त करें।' यह कहकर कौत्स चले गये। बाद में राजमहिषी ने एक दिन ब्राह्ममुहूर्त में पुत्र उत्पन्न किया। उसी पुत्र का नाम 'अज' पड़ा। क्रमशः अज ने अपना बाल्यकाल बिताकर सब कला-कौशलों और विद्याओं को पढ़कर भोज राजा की बहन के स्वयंवर-वृत्तान्त को उसके भृत्य द्वारा जानकर रघु से प्रेरित होकर 'क्रथकैशिकों' के प्रति सैनिकों के साथ प्रस्थान किया। मार्ग में वे नर्मदा तट पर तम्बू लगाकर ठहरे ही थे, कि एक जङ्गली हाथी उनके घोड़े-हाथियों को विद्रावित करता हुआ वहाँ आ पहुँचा। अज ने उसको एक बाण मारा। बाण लगते ही वह हाथी रूप बदलकर गन्धर्वरूप धारण कर अज के सामने खड़ा होकर बोला—'राजकुमार! मैं प्रियदर्शन का पुत्र प्रियंवद नाम का गन्धर्व हूँ। मैंने मतङ्गनाम मुनि को गर्व से अपमानित किया था जिस पर उन्होंने शाप दे दिया और प्रार्थना करने पर मुनि ने आपके बाण से हि विद्ध होकर उक्त हाथी के शरीर से छुटकारा पाने का वर दिया था। उसी वरदान का यह फल है। मैं प्रसन्नता से आपको गन्धर्व अस्त्र देता हूँ। इसके प्रभाव से शत्रुओं पर शस्त्र-प्रहार के बिना ही आप विजय प्राप्त करेंगे।' यह सुनकर अज उस अस्त्र को ग्रहण कर आगे चले और थोड़े ही काल में भोज की राजधानी में पहुँचे। उनका मन इन्दुमती में ऐसा आसक्त हो गया था कि उसकी चिन्ता से रात में बहुत देर के बाद उन्हें नींद आई। सबेरे उठकर दैनिक कृत्य सम्पन्न करके वे सभा में जाने के लिये प्रस्तुत हुए।

रघुवंशमहाकाव्यम्

सञ्जीविनी-सुधा-इन्दु-टीकोपेतम्

प्रथमः सर्गः

मातापितृभ्यां जगतो नमो वामार्धजानये ।
सद्यो दक्षिणदृक्पातसङ्कुचद्वामदृष्टये ॥ १ ॥
अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम् ।
तन्नरं वपुषि कुञ्जरं मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥ २ ॥
शरणं करवाणि शर्मदं ते चरणं वाणि ! चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब ! कृतार्थसार्थवाहम् ॥ ३ ॥
वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां-
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥ ४ ॥
मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥ ५ ॥
कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥ ६ ॥
तथापि दक्षिणावर्तनाथाद्यैः क्षुण्णवर्त्मसु ।
वयं च कालिदासोक्तिष्ववकाशं लभेमहि ॥ ७ ॥
भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता ।
एषा सञ्जीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ॥ ८ ॥
इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥ ९ ॥

इह खलु सकलकविशिरोमणिः कालिदासः । (काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे) इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां, (काव्यालापांश्च वर्जयेद्) इत्यस्य निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन् रघुवंशाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुः, चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसंप्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनभूतविशिष्टदेवतानमस्कारस्य शिष्टा-

चारपरिग्राह्यत्वाद्, (आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्) इत्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात्, काव्यनिर्माणस्य विशिष्टशब्दार्थप्रतिपत्तिमूलकत्वेन विशिष्टशब्दार्थयोश्च (शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा । अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः) इति वायुपुराणसंहितावचनबलेन पार्वतीपरमेश्वरायत्तदर्शनात्तत्प्रतिपित्सया तावेवाभिवादयते—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ १ ॥

सञ्जी०—वागिति । वागर्थाविवेत्येकं पदम् । इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं चेति वक्तव्यम् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । वागर्थाविव शब्दार्थाविव सम्पृक्तौ नित्यसम्बद्धावित्यर्थः । नित्यसम्बद्धयोरुपमानत्वेनोपादानात् 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः' इति मीमांसकाः । जगतः लोकस्य पितरौ । माता च पिता च पितरौ । 'पिता मात्रा' इति द्वन्द्वैकशेषः । 'मातापितरौ पितरौ मातरपितरौ प्रसूजनयितारौ' इत्यमरः । एतेन शर्वशिवयोः सर्वजगज्जनकतया वैशिष्ट्यमिष्टार्थप्रदानशक्तिः परमकारुणिकत्वं च सूच्यते । पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती 'तस्यापत्यम्' इत्यण् । 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्०' इत्यादिना ङीप् । पार्वती च परमेश्वरश्च पार्वतीपरमेश्वरौ । परमशब्दः सर्वोत्तमत्वद्योतनार्थः । मातुरभ्यर्हितत्वादल्पाक्षरत्वाच्च पार्वतीशब्दस्य पूर्वनिपातः । वागर्थप्रतिपत्तये शब्दार्थयोः सम्यग्ज्ञानार्थं वन्देऽभिवादये अत्रोपमाऽलङ्कारः स्फुट एव । तथोक्तं- (स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्पन्नेन च धर्मतः । साध्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकगोपमा ॥) इति प्रायिकश्चोपमाऽलङ्कारः कालिदासोक्तकाव्यादौ । भूदेवताकस्य सर्वगुरोर्मगणस्य प्रयोगाच्छुभलाभः सूच्यते । तदुक्तं 'शुभदो मो भूमिमयः' इति । वकारस्यामृतबीजत्वात्प्रचयगमनादिसिद्धिः ॥

प्रेम्णा प्रेमनिधेः प्रणम्य चरणाम्भोजातयुग्मं गुरो-
स्तत्कारुण्यकणानवाप्य करुणापूर्णा विमूढात्मनि ।
काव्येऽस्मिन् रघुवंशनामनि ननु व्याख्यां सुधाख्यामिमां
गुर्वज्ञानगरागलां गुरुतरां कुर्मो यदप्यक्षमाः ॥

अ०—'अहं कालिदासः' वागर्थाविव, सम्पृक्तौ, जगतः, पितरौ, पार्वतीपरमेश्वरौ, वागर्थप्रतिपत्तये, वन्दे ॥ वाच्यान्तम्—'मया' वागर्थाविव सम्पृक्तौ जगतः पितरौ पार्वतीपरमेश्वरौ वागर्थप्रतिप्रत्तये वन्द्येते ॥

सुधा—'अहमित्यस्य कर्तृपदस्य क्रिययाऽऽक्षेपः कर्तव्यः' । वागर्थाविव = शब्दाभिधेयाविव, सम्पृक्तौ = सततमनुबद्धौ, जगतः = लोकस्य, पितरौ = मातापितरौ, पार्वतीपरमेश्वरौ = गिरिजामहेश्वरौ, वागर्थप्रतिपत्तये = शब्दार्थोभयसम्यग्ज्ञानार्थं, वन्दे = प्रणमामि । यथा वागर्थौ नित्यसम्बद्धौ तथैव लोकस्योत्पादकौ उमामहेश्वरौ, अतः शब्दार्थयोः सम्यक्तरेण ज्ञानार्थं तौ स्तुव इति भावः ॥

समासादिः—वाक् च अर्थश्च वागर्थौ वागर्थयोः प्रतिपत्तिर्वागर्थप्रतिपत्तिस्तस्यै वागर्थप्रतिपत्तये, ईशितुं शीलमस्येतीश्वरः परमश्चासावीश्वरः परमेश्वरः ।

को०—'ब्राह्मी तु भरती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इति चामारः । 'अथो जगती लोको, विष्टपं भुवनं जगद्' इत्यमरः ।

ता०—पार्वतीपरमेश्वरौ प्रसन्नौ भूत्वा मह्यं काव्यनिर्माणशक्तिं प्रदत्तामतोऽहं 'कालिदासनामा' कविः स्वकाव्यविषये विशिष्टशब्दार्थयोर्ज्ञानार्थं तयोरधीश्वरौ पार्वतीपरमेश्वरौ वन्दे ।

इन्दुः— शब्द और अर्थ की तरह नित्य मिले हुये, संसार के माता पिता, उमा और महेश्वर को 'मैं कालिदास नामक ग्रन्थकर्ता महाकवि' शब्द और अर्थ का भली भाँति ज्ञान होने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

सम्प्रति कविः स्वाहङ्कारं परिहरति 'क सूर्य'-इत्यादिश्लोकद्वयेन—

क्व? सूर्यप्रभवो वंशः क्व ? चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ २ ॥

सञ्जी०—क्वेति । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । 'ऋदोरप्' । 'अकर्तरि च करके संज्ञायाम्' इति साधुः । सूर्यः प्रभवो यस्य स सूर्यप्रभवो वंशः क्व ? अल्पो विषयो ज्ञेयोऽर्थो यस्याः सा मे मतिः प्रज्ञा च क्व ? द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः सूर्यवंशमाकलयितुं न शक्नोमीत्यर्थः । तथा च तद्विषयप्रबन्धनिरूपणं तु दूरापास्तमिति भावः । तथा हि । दुस्तरं तरितुमशक्यम् 'ईषद्दुःसुषु०' इत्यादिना खल्प्रत्ययः । सागरं मोहादज्ञानादुडुपेन प्लवेन । 'उडुपं तु प्लवः कोलः इत्यमरः । अथवा चर्मावनद्धेन यानपात्रेण । 'चर्मावनद्धमुडुपं प्लवः काष्ठं करण्डवत्' इति सज्जनः । तितीर्षुस्तरीतुमिच्छुरस्मि भवामि । तरतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अल्पसाधनैरधिकारम्भो न सुकर इति भावः । इदं च वंशोत्कर्षकथनं स्वप्रबन्धमहत्त्वार्थमेव । तदुक्तम्—'प्रतिपाद्यमहिम्ना च प्रबन्धो हि महत्तरः ।' इति ।

अ०—सूर्यप्रभवः, वंशः, क्व, अल्पविषया, 'मम' मतिश्च, क्व, 'अहम्' मोहाद्, उडुपेन, दुस्तरं, सागरं, तितीर्षुः, अस्मि ।

वा०—सूर्यप्रभवेण वंशेन क्व 'भूयते' अल्पविषयया 'मम' मत्या च क्व 'भूयते' 'मया' मोहादुडुपेन दुस्तरं सागरं तितीर्षुणा भूयते ।

सुधा०—सूर्यप्रभवः = दिवाकरोत्पन्नः, वंशः = कुलं (सूर्यवंश इति भावः) । क्व= कुत्र, अल्पविषया = स्तोकज्ञेयार्था, (परिमितपदार्थग्रहणक्षमेति भावः) । 'मम' मतिश्च = बुद्धिश्च, क्व=कुत्र, अनयोर्महदन्तरम् (अतस्तद्वंश्यचरितानुकीर्तनमशक्यमिति भावः) । 'अहम्' मोहाद् = अज्ञानाद्, उडुपेन=प्लवेन, चर्म्मावनद्धयानपात्रेण वा दुस्तरं=दुःखेनापि तरितुं शक्यं, सागरं = समुद्रं, तितीर्षुः = तरितुमिच्छुः,

अस्मि = भवामि, अल्पसाधनैरधिकारम्भो न सुकर इति भावः।

स०—गरेण सहोत्पन्नः सगरः तेन निर्वृत्तः सागरस्तं सागरम्।

को०—'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः। सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यमरः।

ता०—सूर्यवंशस्याल्पविषयाया मम मतेश्च महत्यन्तरे सत्यपि सूर्यवंशवर्णने मदीया प्रवृत्तिश्चर्मावनद्धयानपात्रेण सागरतरणमिव हास्यविषयेति।

इन्दुः—कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न हुआ वंश, और कहाँ थोड़े विषयों का ग्रहण करनेवाली मेरी बुद्धि, अतः उसका वर्णन करने में मैं अज्ञान से पनसुहिया डोंगी द्वारा दुस्तर सागर पार करने की इच्छा करनेवाले की भाँति हूँ॥ २॥

* मन्दः (१) सन् महाकाव्यं चिकीर्षुः, कविः स्वासामर्थ्यं कथयति—

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ ३॥

सञ्जी०—मन्द इति। किं च मन्दो मूढः। 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः स्युः' इत्यमरः। तथाऽपि कवियशःप्रार्थी। कवीनां यशः काव्यनिर्माणेन जातं तत्प्रार्थनाशीलोऽहं प्रांशुनोन्नतपुरुषेण लभ्ये प्राप्ये फले फलविषये लोभादुद्बाहुः फलग्रहणायोच्छ्रितहस्तो वामनः खर्व इव। 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्यमरः। उपहास्यतामुपहासविषयताम्। 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्प्रत्ययः। गमिष्यामि प्राप्स्यामि।

अ०—मन्दः 'तथाऽपि' कवियशःप्रार्थी, 'अहं' प्रांशुलभ्ये, फले, लोभाद्, उद्बाहुः, वामनः, इव, उपहास्यतां, गमिष्यामि। वा०—मन्देन कवियशःप्रार्थिना 'मया' प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुना वामनेनेवोपहास्यता गंस्यते।

सुधा०—'किञ्च' मन्दः = मूढः, 'तथाऽपि' कवियशःप्रार्थी = काव्यकर्तृकीर्तिकाङ्क्षी, 'अहं' प्रांशुलभ्ये = उन्नतपुरुषप्राप्ये, फले = फलविषये, लोभात् = प्राप्तीच्छया, उद्बाहुः = उच्छ्रितहस्तः, वामनः = खर्वः, इव = यथा, उपहास्यताम् = उपहासविषयतां, गमिष्यामि = प्राप्स्यामि।

स०—कवयन्तीति कवयः तेषां यशः कवियशः तत् प्रार्थयितुं शीलमस्य स कवियशःप्रार्थी। लब्धुं योग्यं लभ्यं प्रकृष्टा अंशवो यस्यासौ प्रांशुः तेन लभ्यं प्रांशुलभ्यं तस्मिन् प्रांशुलभ्ये। उदुच्छ्रितौ बाहू यस्य स उद्बाहुः।

को०—'धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरः। 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः। 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमरः।

ता०—उन्नतपुरुषप्राप्यफलस्य ग्रहणे वामनो यथोपहास्यो भवति, तथैव विशिष्टकविवर्णनीयचरितस्य रघुकुलस्य वर्णनेऽहमुपहास्यो भविष्यामीति।

इन्दुः—कवियोंके यश पाने की इच्छा करनेवाला, मन्दबुद्धि मैं हँसी को पाऊँगा।

(१) यत्रावतरणम् * एतच्चिह्नेन तत् 'सुधा' काररचितं ज्ञेयम्।

जैसे कि लम्बे पुरुष के हाथ लगने योग्य फल की ओर लोभ से ऊपर हाथ किया हुआ बौना ॥ ३ ॥

मन्दश्चेत्तर्हि त्यज्यतामयमुद्योग इत्यत आह—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥

सञ्जी०—अथवेति । अथवा पक्षान्तरे पूर्वैः सूरिभिः कविभिर्वाल्मीक्यादिभिः कृतवाग्द्वारे कृतं रामायणादिप्रबन्धरूपा या वाक्सैव द्वारं प्रवेशो यस्य तस्मिन् । अस्मिन्सूर्यप्रभवे वंशे कुले । जन्मनैकलक्षणः सन्तानो वंशः । वज्रेण मणिवेधकसूचीविशेषेण । 'वज्र, स्त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः । मणिवेधे रत्नभेदे' इति केशवः । समुत्कीर्णे विद्धे मणौ रत्ने सूत्रस्येव मे मम गतिः सञ्चारोऽस्ति । वर्णनीये रघुवंशे मम वाक्प्रसरोऽस्तीत्यर्थः ।

अ०—अथवा, पूर्वसूरिभिः कृतवाग्द्वारे, अस्मिन्, वंशे, वज्रसमुत्कीर्णे, मणौ, सूत्रस्य, इव, मे, गतिः, अस्ति वा०—अथवा पूर्वसूरिभिः कृतवाग्द्वारेऽस्मिन् वंशे वज्रसमुत्कीर्णे मणौ सूत्रस्येव मे गत्या भूयते ।

सुधा—अथवा = पक्षान्तरे, पूर्वसूरिभिः = प्राचीनकविभिः 'वाल्मीक्यादिभिः' इति यावत्, कृतवाग्द्वारे = रचितबन्धात्मकवचनप्रवेशे, अस्मिन् = एतस्मिन् 'सूर्यप्रभवे' इति यावद्, वंशे = कुले, वज्रसमुत्कीर्णे = मणिवेधकसूचीविशेषविद्धे, मणौ = रत्ने, सूत्रस्य = तन्तोः, इव = यथा, मे = मम, गतिः = सञ्चारः, अस्ति = वर्तते । वर्णनीये रघुवंशे मम वाक्प्रसरोऽस्तीति भावः ।

स०—वक्तीति वाक् सैव द्वारं वाग्द्वारं कृतं वाग्द्वारं यस्य स कृतवाग्द्वारस्तस्मिन् कृतवाग्द्वारे, वज्रेण समुत्कीर्णः वज्रसमुत्कीर्णस्तस्मिन् वज्रसमुत्कीर्णे ।

को०—'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः । 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः स्याद्' इत्यमरः । 'वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः । 'पूर्वोऽन्यलिङ्गः प्रागाह पुम्बहुत्वेऽपि पूर्वजान्' इत्यमरः । 'धीमान् सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः' इत्यमरः । 'रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्ताऽऽदिकेऽपि च' इत्यमरः । 'सूत्राणि नरि तन्तवः' इत्यमरः ।

ता०—यथा मणिवेधकसूचीविद्धे मणौ सूत्रस्य सञ्चरणं भवति, तथैव वाल्मीक्यादिकृतरामायणरूपप्रबन्धात्मकवचनप्रवेशेऽस्मिन् सूर्यवंशे ममापि सञ्चरणमस्तीति ।

इन्दुः—अथवा पहले के कवियों (वाल्मीकि आदिकों) के द्वारा वर्णन किये हुए रामायण प्रबान्धात्मक द्वारवाले, सूर्यवंशमे, मणिवेधनेवाले सूचीविशेष से वेध किये हुए मणि में सूत्र की भाँति मेरी गति है ॥ ४ ॥

एवं रघुवंशे लब्धप्रवेशस्तद्वर्णनां प्रतिजानानः 'सोऽहम्' इत्यादिभिः पञ्चभिः श्लोकैः कुलकेनाह—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।

आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥ ५ ॥

सञ्जी०—स इति । सोऽहं 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' इत्युत्तरेण सम्बन्धः । किं विधानां रघूणामित्यत्रोत्तराणि विशेषणानि योज्यानि । आजन्मनः । जन्मारभ्येत्यर्थः । 'आङ् मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः । शुद्धानाम् । सुप्सुपेति समासः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । आजन्मशुद्धानाम् । निषेकादिसर्वसंस्कारसम्पन्नानामित्यर्थः । आफलोदयमाफलसिद्धेः कर्म येषां ते तथोक्तास्तेषाम् । प्रारब्धान्तगामिनामित्यर्थः । आसमुद्रं क्षितेरीशानाम् । सार्वभौमाणमित्यर्थः । आनाकं रथवर्त्म येषां तेषाम् । इन्द्रसहचारिणामित्यर्थः । अत्र सर्वत्राङोऽभिविध्यर्थत्वं द्रष्टव्यम् । अन्यथा मर्यादाऽर्थत्वे जन्मादिषु शुद्ध्यभावप्रसङ्गात् ।

अ०—सः, अहम्, आजन्मशुद्धानाम् आफलोदयकर्मणाम्, आसमुद्रक्षितीशानाम्, आनाकरथवर्त्मनां, 'रघूणाम्, अन्वयं, वक्ष्ये' इत्युत्तरेण सम्बन्धः (१)।

सुधा—सः = मन्दः, अहं = ग्रन्थकर्ता, कालिदासकविरिति यावत् । 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' इत्युत्तरेण सम्बन्धः । किंविधानां रघूणामित्यत्रोत्तराणि विशेषणानि योज्यानि कुलकत्वाद् । आजन्मशुद्धानां = जन्मारभ्य, निषेकादिनिखिलसंस्कारसंस्कृतानाम्, आफलोदमकर्मणाम् = फलसिद्धिपर्य्यन्तं व्यापारवताम्, आसमुद्रक्षितीशानाम् = अब्धिपर्य्यन्तं धराऽधीश्वराणां चक्रवर्तिनामिति यावद्, आनाकरथवर्त्मनां = स्वर्गपर्य्यन्तं स्यन्दनसञ्चरणवताम् ।

स०—जन्मनः आ आरभ्येत्याजन्म आजन्मना शुद्धा आजन्मशुद्धास्तेषामाजन्मशुद्धानाम् फलस्योदय इति फलोदयः फलोदयमभिव्याप्येत्याफलोदयम् आफलोदयं कर्म येषान्ते आफलोदयकर्माणस्तेषामाफलोदयकर्मणाम् । क्षितेरीशाः क्षितीशाः समुद्रमभिव्याप्येत्यासमुद्रम् आसमुद्रं क्षितीशाः, आसमुद्रक्षितीशास्तेषामासमुद्रक्षितीशानाम् । रथस्य वर्त्म रथवर्त्म न अकं दुःखं विद्यते यत्र स नाकः नाकमभिव्याप्य आनाकम् आनाकं रथवर्त्म येषान्ते आनाकरथवर्त्मानस्तेषाम् आनाकरथवर्त्मनाम् ॥

को०—'धरा धरित्री धरणिः क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः । 'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः इत्यमरः । 'याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गः स्यन्दनो रथः' इत्यमरः । 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः ।

ता०—सोऽहं निषेकादिसंस्कारशुद्धानां प्रारब्धान्तगामिनां सार्वभौमाणां सदेहस्वर्गगामिनां 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' इत्युत्तरत्रापि योज्यम् ।

इन्दुः—वह 'मन्दबुद्धि' मैं 'कालिदास' जन्म से निषेकादिसंस्कारों से शुद्ध, फल की सिद्धिपर्य्यन्त कर्म करनेवाले, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करनेवाले स्वर्ग तक रथ के मार्गवाले 'रघु के वंश को कहता हूँ' यह आगे के तीन श्लोकों में

(१) इत्यत आरभ्य चतुर्षु श्लोकेषु योग्यताविरहाद् वाच्यान्तरं न ज्ञातव्यम्, किन्त्वतः पञ्चमे ('रघूणामन्वयमि'ति) श्लोके द्रष्टव्यम् ।

भी लगाना चाहिये। कुलक होने से यहाँ से पाँचवें श्लोक में से इस अर्थ का आक्षेप किया जाता है ॥ ५ ॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम ।
यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम ॥ ६ ॥

सञ्जी०—यथेति । विधिमनतिक्रम्य यथाविधि । 'यथाऽसादृश्ये' इत्यव्ययीभावः । तथा हुतशब्देन सुप्सुपेति समासः । एवं 'यथाकामार्चित—इत्यादीनामपि द्रष्टव्यम् यथाविधि हुता अग्नयो यैस्तेषाम् । यथाकाममभिलाषमनतिक्रम्यार्चितार्थिनाम् । यथाऽपराधमपराधमनतिक्रम्य दण्डो येषां तेषाम् । यथाकालं कालमनतिक्रम्य प्रबोधिनां प्रबोधनशीलानाम् । चतुर्भिर्विशेषणैर्दैवतायजनार्थिसत्कारदण्डधरत्वप्रजापालनसमयजागरूकत्वादीनि विवक्षितानि ।

अ०—यथाविधिहुताग्नीनां, यथाकामार्चितार्थिनां, यथाऽपराधदण्डानां, यथाकालप्रबोधिनाम् ।

सुधा—यथाविधिहुताग्नीनां = विधिमनतिक्रम्य, शास्त्ररीत्येति यावत्, तर्पितपावकानां यथाकामार्चितार्थिनां = अभिलाषमनतिक्रम्य पूजितयाचकानां, यथाऽपराधदण्डानाम् = अपराधमनतिक्रम्य 'अपराधानुसारेण' इति यावद्, दण्डप्रदानां, यथाकालप्रबोधिनां = कालमनतिक्रम्य 'उचितसमये' इति यावद्, जागरूकाणां, 'दत्तावधानानाम्' इति यावत् ।

स०—विधिमनतिक्रम्येति यथाविधि यथाविधि हुताः, यथाविधिहुताः यथा विधिहुता अग्नयो यैस्ते यथाविधिहुताग्नयस्तेषां यथाविधिहुताग्नीनाम् । काममनतिक्रम्य यथाकामम् यथाकामम् अर्चिता यथाकामार्चिताः यथाकामार्चिता अर्थिनो यैस्ते यथाकामार्चितार्थिनस्तेषां यथाकामार्चितार्थिनाम् । अपराधमनतिक्रम्य-यथाऽपराधं यथाऽपराधं दण्डो येषान्ते यथाऽपराधदण्डास्तेषां यथाऽपराधदण्डानाम्, यथाकालं प्रबोधिनो यथाकालप्रबोधिनस्तेषां यथाकालप्रबोधिनाम् ।

को०—'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमरः । 'कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्' इति । 'इच्छामनोभवौ कामौ' इति चामरः । 'स्यादर्हिते नमस्यितनमसितमपचायितार्चितापचितम्' इत्यमरः । 'वनीयको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यमरः । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । 'कालो दिष्टोऽप्यनेहाऽपि समयोऽपि' इत्यमरः ।

ता०—शास्त्ररीत्या यज्ञकर्तृणाम् अतिथिसत्कारपरायणानां दुष्टनिग्रहकराणां प्रजापालनसमये जागरूकाणाम् ।

इन्दुः—विधिपूर्वक अग्नि में आहुति देनेवाले, इच्छानुसार याचकों का सम्मान करनेवाले, अपराध के अनुसार दण्ड देनेवाले, उचित समय पर सावधान रहनेवाले ॥ ६ ॥

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥ ७ ॥

सञ्जी०—त्यागायेति । त्यागाय सत्पात्रे विनियोगस्त्यागस्तस्मै । 'त्यागो विहापितं दानम्' इत्यमरः । संभृतार्थानां सञ्चितधनानाम् । न तु दुर्व्यापाराय । सत्याय मितभाषिणां मितभाषणशीलानाम् । न तु पराभवाय । यशसे कीर्तये । 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः । विजिगीषूणां विजेतुमिच्छूनाम् । न त्वर्थसंग्रहाय । प्रजायै संतानाय गृहमेधिनां दारपरिग्रहाणाम् । न तु कामोपभोगाय । अत्र 'त्यागाय' इत्यादिषु 'चतुर्थी तदर्थार्थ०' इत्यादिना तादर्थ्ये चतुर्थीसमासविधानज्ञापकाच्चतुर्थी । गृहैर्दारैर्मेधन्ते सङ्गच्छन्त इति गृहमेधिनः । 'दारेष्वपि गृहाः पुंसि' इत्यमरः । 'जाया च गृहिणी गृहम्' इति हलायुधः । 'मेधृ संगमे' इति धातोर्णिनिः । एभिर्विशेषणैः परोपकारित्वं सत्यवचनत्वं पितॄणां शुद्धत्वं च विवक्षितानि ।

अ०—त्यागाय, सम्भृतार्थानां, सत्याय, मितभाषिणां, यशसे, विजिगीषूणाम्, प्रजायै, गृहमेधिनाम् ।

सुधा—त्यागाय=सत्पात्रे दानाय, सम्भृतार्थानां=सञ्चितधनानां, न तु दुर्व्यापारायेति भावः । सत्याय=यथार्थाय, मितभाषिणां=नाधिकभाषणशीलानां न तु पराभवायेति भावः । यशसे = कीर्त्यै, विजिगीषूणां = विजयेच्छुकानां, नत्वर्थसङ्ग्रहायेति भावः । प्रजायै = सन्तत्यै, गृहमेधिनां=कृतदारपरिग्रहाणां न तु कामोपभोगायेति भावः ॥

स०—गर्ह्यन्ते गृह्णन्ति वा धान्यादिकमिति गृहाः तैर्दारैर्मेधितुं शीलमेषां ते गृहमेधिनस्तेषां गृहमेधिनाम् ॥

कोप०—'अर्थो हेतौ प्रयोजने । निवृत्तौ विषये वाच्ये प्रकारद्रव्यवस्तुषु' इति हैमः । 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यग्' इत्यमरः । 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः ।

ता०—परोपकारिणां सत्यभाषिणां यशोधनानां पूर्वपुरुषोद्धारार्थकृतदारपरिग्रहाणाम् ॥

इन्दुः—सत्पात्र में दान देने के अर्थ धन इकट्ठा करनेवाले यश के अर्थ विजय चाहनेवाले, सन्तान के अर्थ विवाह करनेवाले ॥ ७ ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ ८ ॥

सञ्जी०—शैशव इति । शिशोर्भावः शैशवं बाल्यम् । 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्र०' इत्यञ्प्रत्ययः । 'शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्' इत्यमरः । तस्मिन्वयस्यभ्यस्तविद्यानाम् । एतेन ब्रह्मचर्याश्रमो विवक्षितः । यूनो भावो यौवनं तारुण्यम् । युवादित्वादण्प्रत्ययः । 'तारुण्यं यौवनं समम्' इत्यमरः । तस्मिन्वयसि विषयैषिणां भोगाभिलाषिणाम् । एतेन गृहस्थाश्रमो विवक्षितः । वृद्धस्य भावो वार्द्धकं वृद्धत्वम् । 'द्वन्द्वम-

नोज्ञादिभ्यश्च' इति वुन्प्रत्ययः। 'वार्द्धकं वृद्धसंघाते वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि' इति विश्वः। 'सङ्घातार्थेऽत्र वृद्धाच्च' इति वक्तव्यात्सामूहिको वुञ्। तस्मिन्वार्द्धके वयसि मुनीनां वृत्तिरिव वृत्तिर्येषां तेषाम्। एतेन वानप्रस्थाश्रमो विवक्षितः। अन्ते शरीरत्यागकाले योगेन परमात्मध्यानेन। 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः। तनुं देहं त्यजन्तीति तनुत्यजां देहत्यागिनाम्। 'कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप्। एतेन भिक्षवाश्रमो विवक्षितः॥

अ०—शैशवे, अभ्यस्तविद्यानां, यौवने, विषयैषिणाम्, वार्द्धके, मुनिवृत्तिनाम्, अन्ते, योगेन, तनुत्यजाम्॥

सुधा—शैशवे = बाल्ये वयसि, अभ्यस्तविद्यानां = पठितशास्त्राणां, यौवने = तारुण्ये वयसि, विषयैषिणां = भोगकाङ्क्षिणाम्, वार्द्धके = जरायां वयसि, मुनिवृत्तीनाम् = ऋषितुल्याचरणानाम्, अन्ते = तनुत्यागसमये, योगेन = चित्तवृत्तिनिरोधेन, तनुत्यजां = शरीरत्यागिनाम्॥

स०—अभ्यस्ता विद्या यैस्तेऽभ्यस्तविद्यास्तेषाम् अभ्यस्तविद्यानाम्। मन्यन्ते वेदशास्त्रार्थतत्त्वानीति मुनयः तेषां वृत्तिरिव वृत्तिर्येषान्ते मुनिवृत्तयस्तेषां मुनिवृत्तीनाम्॥

को०—'विषयो यस्य यो ज्ञातस्तत्र शब्दादिकेष्वपि' इत्यमरः।'वाचंयमो मुनिः' इत्यमरः। 'आजीवो जीविका वार्त्ता वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः। 'अन्तो जघन्यं चरममन्त्यपाश्चात्यपश्चिमाः' इति, 'अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियाम्' इति चामरः।

ता०—बाल्ये ब्रह्मचर्य्याश्रमिणां, यौवने गृहस्थाश्रमिणां, वार्द्धकं वानप्रस्थाश्रमिणां, शरीरत्यागसमये भिक्षवाश्रमिणाम्॥

इन्दुः—बालकपन में विद्या सीखनेवाले,युवावस्था में भोग की अभिलाषा रखने वाले, बुढ़ापे में मुनियों की तरह जीविका रखनेवाले, अन्त में (शरीर त्याग करने के समय) योग से (चित्तवृत्तिके निरोध से) शरीर त्याग करनेवाले॥ ८॥

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥ ९॥

सञ्जी०—रघूणामिति। सोऽहं लब्धप्रवेशः। तनुवाग्विभवोऽपि स्वल्पवाणीप्रसारोऽपि सन्। तेषां रघूणां गुणैस्तद्गुणैः। आजन्मशुद्धयादिभिः कर्तृभिः कर्णं मम श्रोत्रमागत्य चापलं चपलकर्माविमृश्यकरणरूपं कर्तुम्। युवादित्वात्कर्मण्यण्। 'क्रियाऽर्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी। प्रचोदितः प्रेरितः सन्। रघूणामन्वयं तद्विषयप्रबन्धं वक्ष्ये॥ कुलकम्॥

अ०—'सः, अहं' तनुवाग्विभवः, अपि तद्गुणैः कर्णम्, आगत्य, चापलाय, प्रचोदितः, सन्, रघूणाम्, अन्वयं वक्ष्ये॥ वा०—तेन मया तनुवाग्विभवेनाऽपि तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितेन सता, आजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणा-

मासमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनां यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनां यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनां त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणां यशसे विजिगीषूणां प्रजाय गृहमेधिनां शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजां, रघूणामन्वयो वक्ष्यते ॥

सुधा—'सोऽहं=लब्धप्रवेशः' सोऽहमिति पदद्वयं पञ्चमश्लोकस्थमत्राध्याहृत्य व्याख्येयः श्लोकः। तनुवाग्विभवोऽपि=स्वल्पवचनैश्वर्योऽपि, तद्गुणैः=रघुगुणैरा-जन्मशुद्ध्यादिभिः कर्तृभिः, कर्णं=श्रोत्रम्, समेति शेषः। आगत्य=प्राप्य, चापला य=चकुराय, चपलकर्म विचारमन्तरेण करणरूपं कर्तुमिति यावत्। प्रचोदितः= प्रेरितः, सन्=भवन्, रघूणां=रघुवंश्यानां राज्ञामिति यावत्। अन्वयं=वंशं, तद्विषयकप्रबन्धमिति यावत्। वक्ष्ये=अभिधास्ये ॥

स०—वक्तीति वाक्, सैव विभवो वाग्विभवः, तनुर्वाग्विभवो यस्यासौ तनु-वाग्विभवः ॥

का०—'वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः। 'तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात्त्रिष्वल्पे विरले कृशे' इति मेदिनी। 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः। 'विभवो रैमोच्चैश्वर्ये' इति मेदिनी। 'कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः इति। 'चपलश्चिकुरः समौ' इति चामरः ॥

ता०—नाहमल्पवचनप्रसारः स्वयं रघुवंशविषयकप्रबन्धं रचयितुमुद्यतः, किन्तु रघुकुलगुणानां प्रेरणयेति ॥

इन्दुः—ऐसे रघुवंशियों के वंश को, मैं वाणी का वैभव थोड़ा होता हुए भी कान में सुनाई पड़े हुये, उन्हीं के गुणों के द्वारा बिना विचार किये ही वर्णन करने के लिये, प्रेरणा किया हुआ कह रहा हूँ॥ ९ ॥

सम्प्रति स्वप्रबन्धपरीक्षार्थं सतः प्रार्थयते—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा ॥१०॥

सञ्जी०- तमिति। तं रघुवंशाख्यं प्रबन्धं सदसतोर्गुणदोषयोर्व्यक्तेर्हेतवः कर्तारः सन्तः श्रोतुमर्हन्ति। यथा हि। हेम्ना विशुद्धिर्निर्दोषस्वरूपं श्यामिकाऽपि लोहान्त-रसंसर्गात्मको दोषोऽपि वाऽग्नौ संलक्ष्यते। नान्यत्र। तद्वदत्रापि सन्त एव गुणदोष-विवेकाधिकारिणः। नान्य इति भावः।

अन्वयः—सदसद्व्यक्तिहेतवः, सन्तः, तं श्रोतुम्, अर्हन्ति, हि, हेम्नः, विशुद्धिः, श्यामिका, अपि, वा, अग्नौ, संलक्ष्यते। वा०--सदसद्व्यक्तिहेतुभिः सद्भिः स श्रोतु-मर्ह्यते, हि हेम्नो विशुद्धिं श्यामिकामपि वाऽग्नौ (सन्तः) संलक्षयन्ति ॥

सुधा--सदसद्व्यक्तिहेतवः=गुणदोषविवेकविधातारः, सन्तः=सुधियः, तं=रघु-वंशाभिधं प्रबन्धं, श्रोतुम्=आकर्णयितुम्, अर्हन्ति=योग्या भवन्ति, हि=यतः, हेम्नः=सुवर्णस्य, विशुद्धिः=निर्दोषस्वरूपं, श्यामिकाऽपि=नीलिकाऽपि, द्रव्यान्तर-

संसर्गरूपो दोषोऽपीति यावत् । वा=अथवा, अग्नौ=वह्नौ, संलक्ष्यते=संदृश्यते, नान्यत्र ।

स०—सच्चासच्च सदसती तयोर्व्यक्तिः सदसद्व्यक्तिः तस्या हेतवः सदसद्व्यक्तिहेतवः ॥

को०—'सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्' इत्यमरः । 'व्यक्तिस्तु पृथगात्मता' इत्यमरः । 'हेतुर्ना कारणं बीजम्' इत्यमरः । 'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम् इत्यमरः ॥ 'श्यामो वटे प्रयागस्य वारिदे वृद्धदारके । पिके च कृष्णहरितोः पुंसि स्यात्तद्वति त्रिषु ॥ मरीचे सिन्धुलवणे क्लीबं स्त्री सारिवौषधौ । अप्रसूताङ्गनायाञ्च प्रियङ्गावपि चोच्यते ॥ यमुनायां त्रियामायां कृष्णत्रिवृतिकौषधौ । नीलिकायाम्' इति मेदिनी ॥

ता०—यथा वह्निमन्तरेण न कैश्चित् सुवर्णस्य गुणदोषौ द्रष्टुं शक्येते तथा सन्तमन्तरेणास्मद्रचितप्रबन्धगुणदोषावपि ।

इन्दुः—भले और बुरे का विचार करनेवाले पण्डित लोग उसे सुनने के लिए योग्य हैं, क्योंकि सुवर्ण की शुद्धता और श्यामता अग्नि में ही देखी जाती है ॥१०॥

वर्ण्यं वस्तूपक्षिपति श्लोकद्वयेन—

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ ११ ॥

सञ्जी०—वैवस्वत इति । मनस ईषिणो मनीषिणो धीराः विद्वांस इति यावत् ॥ पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां माननीयः पूज्यः । छन्दसां वेदानाम् । 'छन्दः पद्ये च वेदे च' इति विश्वः । प्रणव ओंकार इव । महीं क्षियन्तीशत इति महीक्षितः क्षितीश्वराः । क्षिधातोरैश्वर्यार्थात्क्विप्तुगागमश्च । तेषामाद्य आदिभूतः । विवस्वतः सूर्यस्यापत्यं पुमान्वैवस्वतो नाम वैवस्वत इति प्रसिद्धो मनुरासीत् ॥

अ०—मनीषिणाम्, माननीयः, छन्दसाम्, प्रणवः, इव, महीक्षिताम्, आद्यः, वैवस्वतः, नाम, मनुः, आसीत् ॥ वा०—मनीषिणां माननीयेन छन्दसां प्रणवेनेव महीक्षितामाद्येन वैवस्वतेन मनुनाऽभूयत ॥

सुधा—मनीषिणाम् = पण्डितानाम्, माननीयः = पूज्यः, अग्रणीरिति यावत् छन्दसां = वेदानाम्, प्रणवः = ओङ्कारः, इव = यथा, महीक्षितां=धराऽधीश्वराणाम्, आद्यः = प्रथमः, वैवस्वतः = विवस्वत्पुत्रः, सूर्यपुत्र इति यावद्, नाम = 'वैवस्वत' इति नाम्ना प्रसिद्धः, मनुः = कश्चिन्मनुः, आसीद् = बभूव ॥

स०—प्रकृष्टो नवः (स्तुतिः) प्रणवः । छन्दन्तीति छन्दांसि तेषां छन्दसाम् ।

को०—'नाम प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः । 'धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरः । 'राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः' इत्यमरः । 'ओङ्कारप्रणवौ समौ इत्यमरः ।

ता०—यथा वेदानामादिः प्रणवस्तथा राज्ञामादिर्वैवस्वतो मनुरासीत् ॥

इन्दुः—पण्डितों में पूज्य, वेदों में प्रणव (ओङ्कार) के समान राजाओं में प्रथम 'वैवस्वत' नाम से प्रसिद्ध मनु हुये ॥ ११ ॥

‌॥वर्ण्ये रघुवंशे प्रधानपुरुषस्य रघोः पितृनामकथनम्—

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥ १२ ॥

मल्ली०—तदिति । शुद्धिरस्यास्तीति शुद्धिमान् । तस्मिञ्शुद्धिमति तदन्वये तस्य मनोरन्वये वंशे । 'अन्ववायोऽन्वयो वंशो गोत्रं चाभिजनं कुलम्' इति हलायुधः । अतिशयेन शुद्धिमाञ्शुद्धिमत्तरः 'द्विवचनविभज्योप०' इत्यादिना तरप् । दिलीप इति प्रसिद्धो राजा इन्दुरिव राजेन्दू राजश्रेष्ठः । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः०' इत्यादिना समासः । क्षीरनिधाविन्दुरिव प्रसूतो जातः ॥

अ०—शुद्धिमति, तदन्वये, शुद्धिमत्तरः, दिलीपः, इति, राजेन्दुः, क्षीरनिधौ, इन्दुः, इव, प्रसूतः ॥ वा०—शुद्धिमति तदन्वये शुद्धिमन्तरेण दिलीपेनेति राजेन्दुना क्षीरनिधाविन्दुनेव प्रसूतेनाभावि ॥

सुधा—शुद्धिमति = पवित्रताऽऽपन्ने, निष्कलङ्क इत्यर्थः । तदन्वये = मनुवंशे, शुद्धिमत्तरः = अतिपवित्रः, दिलीपः = दिलीपेत्याह्वः, इति = प्रसिद्धः, प्रकाशार्थकमव्ययमेतद् । राजेन्दुः = भूपचन्द्रः, आत्रेन्दोः श्रेष्ठार्थबोधकतया राजश्रेष्ठ इत्यर्थो बोध्यः । क्षीरनिधौ = दुग्धोदधौ, इन्दुः = चन्द्रः, इव = यथा, प्रसूतः = जातः ॥

स०—निधीयतेऽस्मिन्निति निधिः, क्षीरस्य निधिः क्षीरनिधिस्तस्मिन् क्षीरनिधौ ।

को०—'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः, कुमुदबान्धवः' इति । 'सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थवाचकाः' इति । (अत्रादिपदेनेन्दोरपि श्रेष्ठार्थबोधकत्वेन ग्रहणं बोध्यम्) 'दुग्धं क्षीरं समम्' इति । 'इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु' इति । 'व वा यथा तथैवैवं साम्ये' इति चामरः ॥

ता०—यथा क्षीरनिधाविन्दुर्जातस्तथा मनुवंशे दिलीपो जातः ॥

इन्दुः—पवित्र उस 'वैवस्वत' मनु के वंश में, अतिपवित्र, राजाओं में चन्द्र (अर्थात् श्रेष्ठ) 'दिलीप' इस नाम से प्रसिद्ध क्षीरसमुद्र में चन्द्रमा के समान उत्पन्न हुए ॥ १२ ॥

'व्यूढ' इत्यादित्रिभिः श्लोकैर्दिलीपं विशिनष्टि—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्त्रो धर्म इवाश्रितः ॥ १३ ॥

मल्ली०—व्यूढेति । व्यूढं विपुलमुरो यस्य स व्यूढोरस्कः । 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति कप्प्रत्ययः । 'व्यूढं विपुलं भद्रं स्फारं समं वरिष्ठं च' इति यादवः । वृषस्य स्कन्ध इव स्कन्धो यस्य स तथा । 'सप्तम्युपमान०' इत्यादिनोत्तरपदलोपिबहुव्रीहिः । शालो वृक्ष इव प्रांशुरुन्नतः शालप्रांशुः । 'प्राकारवृक्षयोः शालः शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति यादवः 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमरः । महाभुजो महाबाहुः । आत्मकर्मक्षमं स्वव्यापारानुरूपं देहमाश्रितः प्राप्तः क्षात्त्रः क्षत्त्रसम्बन्धी धर्म इव स्थितः ।

मूर्तिमान्पराक्रम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा ॥

अ०—व्यूढोरस्कः, वृषस्कन्धः शालप्रांशुः, महाभुजः, आत्मकर्मक्षमं, देहम्, आश्रितः, क्षात्त्रः, धर्मः, इव, (स्थितः) ॥ वा०—व्यूढोरस्केन वृषस्कन्धेन शालप्रांशुना महाभुजेनात्मकर्मक्षमं देहमाश्रितेन क्षात्त्रेण धर्म्मेणास्थायि ॥

सुधा—व्यूढोरस्कः = विपुलवक्षःस्थलः, वृषस्कन्धः = वृषभांसः, शालप्रांशुः = शालवृक्ष इव उन्नतः, महाभुजः = दीर्घबाहुः आजानुबाहुरिति यावत् । आत्मकर्मक्षमं = स्वकार्यसाधनसमर्थं, देहं = शरीरम्, आश्रितः = अधिगतः, क्षात्त्रः = क्षत्त्रसम्बन्धी, धर्मः = स्वभावः, इव = यथा, स्थितः, मूर्तिमान् क्षत्त्रियधर्मः पराक्रम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा ॥

स०—प्रकृष्टा अंशवोऽस्यासौ प्रांशुः, शाल इव प्रांशुः शालप्रांशुः । अततीत्यात्मा तस्य कर्म, आत्मकर्म तस्मिन् क्षमं आत्मकर्मक्षमस्तम् आत्मकर्मक्षमम् ।

को०—'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री' इत्यमरः । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः स्याद्' इत्यमरः । 'कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः ॥

ता०—मूर्तिमान् क्षात्त्रधर्मः पराक्रम इव दिलीपः स्थितः ॥

इन्दुः—चौड़ी छातीवाले, बैल के कन्धे के समान कन्धेवाले, साल सरीखे ऊँचे लम्बी भुजावाले, अपने काम के करने में समर्थ देह को धारण किये हुये, जैसे क्षत्रियों का धर्म्म पराक्रम हो, उसके समान दिलीप हुये ॥ १३ ॥

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ १४ ॥

सञ्जी०—सर्वेति । सर्वातिरिक्तसारेण सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽधिकबलेन 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः सर्वाणि भूतानि तेजसाऽभिभवतीति सर्वतेजोऽभिभावी तेन । सर्वेभ्य उन्नतेनात्मना शरीरेण 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वः । मेरुरिव । उर्वीं क्रान्त्वाऽऽक्रम्य स्थितः । मेरावपि विशेषणानि तुल्यानि । 'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः । तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥' इति मनुवचनाद्राज्ञः सर्वतेजोऽभिभावित्वं ज्ञेयम् ।

अ०—सर्वातिरिक्तसारेण, सर्वतेजोऽभिभाविना, सर्वोन्नतेन, आत्मना, मेरुः, इव उर्वीं क्रान्त्वा (स्थितः) ॥

वा०—सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना सर्वोन्नतेनात्मना मेरुणेव (तेन) उर्वीं क्रान्त्वा स्थितेनाभावि ॥

सुधा—सर्वातिरिक्तसारेण = अशेषप्राणिसमधिकबलेन, सर्वतेजोऽभिभाविना = समस्तप्रभावाभिभवकारिणा, स्वप्रभावेण सकलजनाभिभवकारिणेति भावः । सर्वोन्नतेन = निःशेषोच्छ्रितेन, आत्मना = शरीरेण मेरुः = सुमेरुः, इव = यथा, उर्वीं = वसुन्धरां, क्रान्त्वा = आक्रम्य, स्थितः = स्थितवान् ।

स०—सर्वेभ्योऽतिरिक्तः सर्वातिरिक्तः सर्वातिरिक्तः सारो यस्य स सर्वाति-

रिक्तसारस्तेन सर्वातिरिक्तसारेण, सर्वेषां तेजांसि सर्वतेजांसि तान्यभिभवितुं शीलमस्य स सर्वतेजोऽभिभावी तेन सर्वतेजोऽभिभाविना।

को०—'अतिरिक्तः समधिकः' इत्यमरः। 'तेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्रेऽपि' इत्यमरः। 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमरः। 'सर्वंसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा' इत्यमरः। 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः।

ता०—यथा सकलपर्वतापेक्षयाऽधिकसारः स्वतेजसाऽन्याभिभवकर्त्ता सकलपर्वतापेक्षयोन्नतो मेरुः पर्वतो भूमिमाक्रम्य स्थितस्तथव दिलीपोऽपीति।

इन्दुः—सबसे अधिक बलवान् (मेरुपक्ष में सबसे अधिक स्थिर), सभी लोगों के तेज को अपने प्रभावसे (मेरुपक्षमें कान्तिसे) नीचा दिखलानेवाले, सब से अधिक ऊँचे शरीर से मेरु पर्वत के समान पृथ्वी को दबाकर बैठे हुए ॥ १४ ॥

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥ १५ ॥

सञ्जी०—आकारेति। आकारेण मूर्त्या सदृशी प्रज्ञा यस्य सः। प्रज्ञया सदृशागमः=प्रज्ञाऽनुरूपशास्त्रपरिश्रमः। आगमैः सदृश आरम्भः कर्म यस्य स तथोक्तः। आरभ्यत इत्यारम्भः कर्म। तत्सदृश उदयः फलसिद्धिर्यस्य स तथोक्तः।

अ०—आकारसदृशप्रज्ञः, प्रज्ञया, सदृशागमः, आगमैः, सदृशारम्भः' आरम्भसदृशोदयः, 'स दिलीप आसीदिति' शेषः। वा०—आकारसदृशप्रज्ञेन प्रज्ञया सदृशागमेनागमैः सदृशारम्भसदृशोदयेन 'दिलीपेनाभावि'।

सुधा—आकारसदृशप्रज्ञः=आकृतितुल्यबुद्धिः, प्रज्ञया=मत्या, सदृशागमः=अनुरूपशास्त्रः, तस्य दिलीपस्य यादृशी तीक्ष्णा मतिरासीत् तादृशः शास्त्रेषु परिश्रमोऽपीति भावः। आगमैः=शास्त्रैः, राजनीत्यादिभिरिति यावन। सदृशारम्भः=समानोद्घातः, नीतिशास्त्राद्यनुकूलसकलकार्यारम्भ इति भावः। आरम्भसदृशोदयः=उपक्रमानुरूपफलसिद्धिः, प्रारब्धकर्मतुल्यफलसिद्धिरिति भावः। स दिलीप आसीदिति शेषः।

स०—आकारेण सदृशी आकारसदृशी आकारसदृशी प्रज्ञा यस्यासौ आकारसदृशप्रज्ञः आरम्भेण सदृशः आरम्भसदृशः, आरम्भसदृश उदयो यस्य स आरम्भसदृशोदयः।

को०—'आकारविङ्गिताकृती' इत्यमरः। 'वाच्यलिङ्गाः समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृग्' इत्यमरः। 'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः। 'प्रक्रमः स्यादुपक्रमः। स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भ' इत्यमरः।

ता०—तस्य राज्ञो दिलीपस्य यथाऽऽकारोऽत्युन्नतस्तथा बुद्धिरपि महती, यथा च बुद्धिस्तथा शास्त्रेषु परिश्रमः, यथा शास्त्रानुसारिणी क्रिया तथा क्रियाऽनुरूपा फलसिद्धिरासीत्।

इन्दुः—आकार के सदृश बुद्धिवाले बुद्धि के सदृश शास्त्र का अभ्यास करनेवाले

शास्त्र के अनुरूप कर्म प्रारम्भ करनेवाले, प्रारम्भ किए हुए कर्म के अनुरूप फल सिद्धि प्राप्त करनेवाले (दिलीप थे) ॥ १५ ॥

*तस्य भयङ्करत्वं मनोरमत्वञ्च दर्शयति—

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥ १६ ॥

सञ्जी०—भीमेति । भीमैश्च कान्तैश्च नृपगुणैः राजगुणस्तेजःप्रतापादिभिः कुलशीलदाक्षिण्यादिभिश्च स दिलीप उपजीविनामाश्रितानाम् । यादोभिर्जलजीवैः 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । रत्नैश्चार्णव इति । अधृष्योऽनभिभवनीयः । अभिगम्य आश्रयणीयश्च बभूव ॥

अ०—भीमकान्तैः, नृपगुणैः, सः, उपजीविनो, यादोरत्नैः, अर्णवः इव अधृष्यश्च, अभिगम्यश्च, बभूव ॥ वा०—भीमकान्तैर्नृपगुणैरुपजीविनां तेनाधृष्येण चाभिगम्येन च यादोरत्नैरर्णवेनेव बभूवे ॥

सुधा—भीमकान्तैः = भयङ्करमनोज्ञैः, नृपगुणैः=राजगुणैः, तेजःप्रतापदयादाक्षिण्यादिभिरिति यावत् । सः = दिलीपः, उपजीविनाम् = आश्रितानां, यादोरत्नैः = जलजन्तुमणिभिः, अर्णवः = समुद्रः, इव = यथा, अधृष्यश्च = अनभिभवनीयश्च, अभिगम्यश्च, सेवनीयश्च, बभूव = अभूत् ॥

स०—भीमाश्च कान्ताश्च भीमकान्ताः तैर्भीमकान्तैः । यादांसि च रत्नानि च यादोरत्नानि तैर्यादोरत्नैः ॥

को०—दारुणं भीषणं भीष्मं घोरं भीमं भयानकम्' इत्यमरः । 'कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्' इत्यमरः । 'मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्त्वशौर्यसन्ध्यादिके गुणः' इत्यमरः । 'राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः' इत्यमरः । 'रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्ताऽऽदिकेपि च' इत्यमरः । 'सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यमरः ।

ता०—स दिलीपो जलजन्तुरत्नादिभिः समुद्र इव तेजःप्रतापादिभिः कुलशीलदाक्षिण्यादिभिश्च सर्वराजगुणैराश्रितानामनभिभवनीयः सेवनीयश्च बभूव ।

इन्दुः—भयानक और मनोरम राजगुणों (तेज, प्रताप आदि और दया दाक्षिण्यादि) के कारण आश्रितों को वह राजा दिलीप, जलजन्तु और रत्नों के कारण से समुद्र के समान दूर रहने योग्य और सेवा करने योग्य हुए ॥ १६ ॥

*तस्य प्रजा राजनिदेशवर्त्तिन्य इत्याह—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ १७ ॥

सञ्जी०—रेखेति । नियन्तुः शिक्षकस्य सारथेश्च तस्य दिलीपस्य सम्बन्धिन्यो नेमीनां चक्रधाराणां वृत्तिरिव वृत्तिर्व्यापारो यासां ताः 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति यादवः । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । प्रजाः । आ

मनोः, मनुमारभ्येत्यभिविधिः। पदद्वयं चैतत्। समासस्य विभाषितत्वात्। क्षुण्णादभ्यस्तात्प्रहताच्च वर्त्मन आचारपद्धतेरध्वनश्च परमधिकम्। इतस्तत इत्यर्थः। रेखा प्रमाणमस्येति रेखामात्रं रेखाप्रमाणम्। ईषदपीत्यर्थः। 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इत्यनेन मात्रच्प्रत्ययः परशब्दविशेषणं चैतत्। न व्यतीयुर्नातिक्रान्तवत्यः। कुशलसारथिप्रेषिता रथनेमय इव यस्य प्रजाः पूर्वक्षुण्णमार्गं न जहुरिति भावः।

अ०—नियन्तुः, तस्य, नेमिवृत्तयः, प्रजाः आ, मनोः क्षुण्णात्, वर्त्मनः, परं, रेखामात्रम्, अपि, न व्यतीयुः। वा०—नियन्तुस्तस्य नेमिवृत्तिभिः प्रजाभिरा मनोः क्षुण्णात् वर्त्मनः परं रेखामात्रमपि न व्यतीये।

सुधा—नियन्तुः = शिक्षकस्य—सारथेश्च, तस्य = दिलीपस्य, नेमिवृत्तयः=चक्रधाराव्यापाराः, प्रजाः = जनाः, आ मनोः=मनुमारभ्य, क्षुण्णाद्=अभ्यस्तात्-प्रहताच्च, वर्त्मनः = आचारपद्धतेः = मार्गाच्च, परम्=अधिकम्, इतस्तत इत्यर्थः। रेखामात्रं= रेखाप्रमाणम्, अपि, न = नहि, व्यतीयुः=व्यतिक्रान्तवत्यः। कुशलसारथिप्रेरिता रथनेमय इव तस्य प्रजाः पूर्वक्षुण्णमार्गं न जहुरिति भावः।

स०—नेमीनां वृत्तिरिव वृत्तिर्यासां ता नेमिवृत्तयः।

को०—'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः'। अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः। 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः।

ता०—यथा निपुणसारथिसञ्चालिता रथचक्रधाराः पूर्वक्षुण्णसरणिं न जहति, तथैव तस्य दिलीपस्य प्रजा अपि पूर्वाभ्यस्तां मनूपदिष्टामाचारपद्धतिं न तत्यजुः।

इन्दुः—शिक्षक अथवा सारथि के सदृश उस राजा दिलीप की रथ के पहिये की भाँति चलनेवाली प्रजायें मनु के समय से बताये हुए (रथचक्रधारापक्ष में खुदे हुए) मार्ग से लकीर भी बाहर न गईं ॥ १७ ॥

❀तस्य करग्रहणं प्रजानां सुखविधानार्थमित्याह—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ १८ ॥

सञ्जी०—प्रजानामिति। स राजा प्रजानां भूत्या अर्थाय भूत्यर्थं वृद्ध्यर्थमेव। (अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या) ग्रहणक्रियाविशेषणं चैतत्। ताभ्यः प्रजाभ्यो बलिं षष्ठांशरूपं करमग्रहीत्। 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः। तथा हि। रविः सहस्रं गुणा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा सहस्रगुणं सहस्रधोत्स्रष्टुं दातुम्। उत्सर्जनक्रियाविशेषणं चैतत्। रसमम्ब्वादत्ते गृह्णाति। 'रसो गन्धे रसे स्वादे तिक्तादौ विषरोगयोः। शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे॥' इति विश्वः।

अ०—सः, प्रजानां, भूत्यर्थम्, एव, ताभ्यः, बलिम्, अग्रहीत्, हि, रविः, सहस्रगुणम् उत्स्रष्टुं, रसम्, आदत्ते। वा०—तेन प्रजानां भूत्यर्थमेव ताभ्यो बलिरग्राहि, हि सहस्रगुणमुत्स्रष्टुं रविणा रस आदीयते।

सुधा—सः = राजा दिलीपः, जनानां = प्रजानां, भूत्यर्थं = सम्पत्त्यर्थं, वृद्ध्यर्थंमिति यावत्, एव = निश्चयेन, ताभ्यः = प्रजाभ्यः, बलिं = भागधेयं, षष्ठांशरूपमिति भावः । अग्रहीत् = जग्राह, हि = यतः, रविः = भानुः, सहस्रगुणं=सहस्रगुणाधिकम्, उत्स्रष्टुं = दातुं, रसम्=अम्बु, आदत्ते=गृह्णाति । राजा दिलीपो यत् करं षष्ठांशरूपं गृह्णाति ततोऽप्यधिकं प्रजानां सुखवृद्ध्यर्थं द्रव्यं यज्ञादावुत्सृजतीति भावः ।

स०—सहस्रं गुणा यस्मिन् कर्मणि तत् सहस्रगुणं क्रियाविशेषणमेतत् ।

को०—'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः । 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः । 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः' इत्यमरः ।

ता०—यथा सूर्यः सहस्रगुणं वर्षाद्वारा दातुं जलं गृह्णाति तथैव दिलीपोऽपि प्रजानां सुखवृद्ध्यर्थमेव ताभ्यः करं गृहीत्वा ततोऽप्यधिकेन तेन यज्ञादिमार्गसेतुवापीकूपतडागादिनिर्माणं करोति ।

इन्दुः—प्रजा की भलाई ही के लिए वह राजा दिलीप उन सबों से (अर्थात् प्रजा से) कर लेता था, जैसे-कि सहस्रगुना बरसाने ही के लिये सूर्य जल लेता है॥

सम्प्रति बुद्धिशौर्य्यसम्पन्नस्य तस्यार्थसाधनेषु परानपेक्षत्वमाह—

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥ १९ ॥

सञ्जी०—सेनेति । तस्य राज्ञः सेना चतुरङ्गबलं परिच्छाद्यतेऽनेनेति परिच्छद उपकरणं बभूव । छत्रचामरादितुल्यमभूदित्यर्थः । 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घप्रत्ययः 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' इत्युपधाह्रस्वः । अर्थस्य प्रयोजनस्य तु साधनं द्वयमेव । शास्त्रेष्वकुण्ठिताऽव्याहता बुद्धिः 'व्यापृता' इत्यपि पाठः, धनुष्याततोऽऽरोपिता मौर्वी ज्या च । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । नीतिपुरःसरमेव, तस्य शौर्यमभूदित्यर्थः ।

अ०—तस्य, सेना, परिच्छदः, (बभूवेति शेषः, बुद्ध्यादिषु सर्वत्र योज्यम्) अर्थसाधनं, द्वयम्, एव, (एकम्) शास्त्रेषु अकुण्ठिता, बुद्धिः, (अपरम्) धनुषि, आतता मौर्वी, च । वा०—तस्य सेनया परिच्छदेनाभावि, शास्त्रेष्वकुण्ठितया बुद्ध्या धनुषि चाततया मौर्व्या च 'इति' द्वयेनैवार्थसाधनेनाभावि ।

सुधा—तस्य = राज्ञो दिलीपस्य, सेना = सैन्यम्, परिच्छदः=उपकरणम्, बभूवेति शेषः । बुद्ध्यादिषु सर्वत्र योज्यम् । छत्रचामरादितुल्यं शोभाऽर्थमेवाभूदिति भावः । अर्थसाधनं=प्रयोजननिर्वर्तनं, द्वयमेव = द्वितयमेव, (एकम्) शास्त्रेषु = नीतिशास्त्रादिषु, अकुण्ठिता = अव्याहता, बुद्धिः = मति, (अपरम्) धनुषि = कोदण्डे, आतता = आरोपिता, मौर्वी = शिञ्जिनी, गुण इति यावत् । च, नीतिशास्त्रादिसम्मतमेव तस्य शौर्य्यप्रदर्शनमभूदिति भावः ॥

स०—साध्यतेऽनेनेति साधनम्, अर्थस्य साधनम् अर्थसाधनम् ।

को०—'ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः। वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः। 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इति। 'निर्वर्तनोपकरणानुव्रज्यासु च साधनम्' इत्यमरः। 'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः। 'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमरः।

ता०—तस्य दिलीपस्य सेना प्रयोजनसम्पादिका नाभूत् केवलं तु शोभाऽर्थमेव। किन्तु राजनीतिविषया तदीया मतिः सज्यं शरासनञ्चेति द्वयेनैव सकलार्थसिद्धिरभूत्।

इन्दुः—उस राजा दिलीप की सेना तो छत्र-चामर के समान केवल शोभार्थ हुई। क्योंकि प्रयोजन सिद्ध दो ही से होते थे, एक तो शास्त्रों में पैनी बुद्धि से, और दूसरे धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा से ॥ १९ ॥

राज्यमूलं मन्त्रसंरक्षणं तस्यासीदित्याह—

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥ २० ॥

सञ्जी०—तस्येति। संवृतमन्त्रस्य गुप्तविचारस्य। 'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः' इत्यमरः। शोकहर्षादिसूचको भ्रुकुटीमुखरागादिराकार इङ्गितं चेष्टितं हृदयगतविकारो वा। 'इङ्गिते हृद्गतो भावो बहिराकार आकृतिः' इति सज्जनः। गूढे आकारेङ्गिते यस्य स्वभावचापलाद् भ्रमपरम्परया मुखरागादिलिङ्गैर्वाऽतृतीयगामिमन्त्रस्य तस्य प्रारभ्यन्त इति प्रारम्भाः सामाद्युपायप्रयोगाः। प्रागित्यव्ययेन पूर्वजन्मोच्यते तत्र भवाः प्राक्तनाः। 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेन ट्यप्रत्ययः। संस्काराः पूर्वकर्मवासना इव। फलेन कार्येणानुमेया अनुमातुं योग्या आसन्। अत्र याज्ञवल्क्यः—'मन्त्रमूलं यतो राज्यमतो मन्त्रं सुरक्षितम्। कुर्याद्यथा तन्न विदुः कर्मणामाफलोदयात् ॥' इति।

अन्वयः—संवृतमन्त्रस्य, च, गूढाकारेङ्गितस्य, तस्य प्रारम्भाः,प्राक्तनाः, संस्काराः, इव, फलानुमेयाः, 'आसन्' इति शेषः। वा०—संवृतमन्त्रस्य च गूढाकारेङ्गितस्य तस्य प्रारम्भैः प्राक्तनैः संस्कारैरिव फलानुमेयैरभावि।

सुधा—संवृतमन्त्रस्य=गुप्तविचारस्य, च=पुनः, गूढाकारेङ्गितस्य=अप्रकटिताकृतिहृद्गतभावस्य, तस्य=दिलीपस्य, प्रारम्भाः=सामाद्युपायप्रयोगाः, प्राक्तनाः=पूर्वजन्मोद्भवाः, संस्काराः=कर्मवासनाः, इव=यथा, फलानुमेयाः=कार्यज्ञेयाः, आसन्निति शेषः। तस्य दिलीपस्य मन्त्रोऽतीव गुप्ततम आसीदिति भावः।

स०—संवृतो मन्त्रो यस्य स संवृतमन्त्रस्तस्य संवृतमन्त्रस्य, आकारश्चेङ्गितञ्च आकारेङ्गिते। गूढे आकारेङ्गिते यस्य स गूढाकारेङ्गितस्तस्य गूढाकारेङ्गितस्य।

को०—'फलं हेतुकृते जातीफले फलकसस्ययोः। त्रिफलायाञ्च कक्कोले शस्त्राग्रे व्युष्टिलाभयोः' इति हैमः।

ता०—शोकहर्षादिसूचकैर्भ्रुकुटीमुखरागादिलिङ्गैरप्यतृतीयगामिमन्त्रस्य तस्य दि-

दिलीपस्य यथा लोके कार्येण पूर्वजन्मोद्भवसंस्कारस्यानुमानं भवति तथैव सामाद्युपायप्रयोगाणामप्यनुमानमभूत्।

इन्दुः—विचार को गुप्त रखने वाले, तथा बाहर-भीतर के हर्षशोकादि-सूचक चिह्नों को छिपाने वाले, उस राजा दिलीप के कार्य 'सामदानाद्युपाय' फलों से अनुमान किये जाते थे, जैसे—कि पूर्व जन्म के संस्कार॥ २०॥

सम्प्रति सामाद्युपायान्विनैवात्मरक्षादिकं कृतवानित्याह—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्॥ २१॥

सञ्जी०—जुगोपेति। अत्रस्तोऽभीतः सन्। 'त्रातो, भीरुभीरुकभीलुकाः' इत्यमरः। त्रासोपाधिमन्तरेणैव त्रिवर्गसिद्धेः प्रथमसाधनत्वादेवात्मानं शरीरं जुगोप रक्षितवान्। अनातुरोऽरुग्ण एव धर्मं सुकृतं भेजे। अर्जितवानित्यर्थः। अगृध्नुरगर्धनशील एवार्थमाददे स्वीकृतवान्। 'गृध्नुस्तु गर्धनः। लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्समौ लोलुपलोलुभौ' इत्यमरः। 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' इति क्नुप्रत्ययः। असक्त आसक्तिरहित एव सुखमन्वभूत्।

अ०—सः, अत्रस्तः, 'सन्' आत्मानं, जुगोप, अनातुरः 'सन्' धर्मं, भेजे, अगृध्नुः, 'सन्' अर्थम्, आददे, असक्तः 'सन्' सुखम्, अन्वभूत्। वा०—तेनात्रस्तेन सतात्मा जुगुपे, अनातुरेण धर्मो भेजे, अगृध्नुनाऽर्थ आददे, असक्तेन सुखमन्वभावि।

सुधा—सः = दिलीपः, अत्रस्तः = अभीरुः, सन्निति शेषः, सर्वत्रानातुरादिषु योज्यम्। आत्मानं=कलेवरं, जुगोप = पालितवान् (भयं विनैव पुरुषार्थत्रयस्य सिद्धेरादिमसाधनत्वादेव शरीरं रक्षितवानिति भावः)। अनातुरः = अरुग्णः, 'सन्' धर्मं = पुण्यम्, भेजे=सेवितवान्, अर्जितवानित्यर्थः। अगृध्नुः=अलोलुपः, 'सन्' अर्थं=द्रविणम्, आददे=गृहीतवान् (स्वीकृतवानित्यर्थः)। असक्तः = आसक्तिरहितः 'सन्' सुखं = कल्याणम्, अन्वभूत् = अनुभूतवान्।

स०—आतुतोतीत्यातुरः न आतुरोऽनातुरः।

को०—'आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि। चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च' इति धरणिः। 'स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्यमरः। 'आमयावी, विकृतो व्याधितोऽपटुः। आतुरोऽभ्यमितोऽभ्यान्तः' इत्यमरः। 'हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमर्थरैविभवा अपि' इत्यमरः। 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः।

ता०—स दिलीपो भयादात्मानं न रक्षितवान्, रोगाद् धर्मं न सेवितवान्, लोभाद् धनं न गृहीतवान्, आसक्त्या सुखं नानुभूतवान्॥ २१॥

इन्दुः—उस (राजा दिलीप) ने बिना डरे हुये अपने शरीर की रक्षा की, विना रोगी होते हुये धर्म का सेवन किया, विना लोभी होते हुये धन का ग्रहण किया, और विना आसक्त होते हुये सुख का अनुभव किया॥ २१॥

परस्परविरुद्धानामपि गुणानां तत्र साहचर्य्यमासीदित्याह—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥ २२ ॥

सञ्जी०—ज्ञान इति । ज्ञाने परवृत्तान्तज्ञाने सत्यपि मौनं वाङ्नियमनम् । यथाऽऽह कामन्दकः—(नान्योपतापि वचनं मौनं व्रतचरिष्णुता) इति । शक्तौ प्रतीकारसामर्थ्येऽपि क्षमा अपकारसहनम् । अत्र चाणक्यः–(शक्तानां भूषणं क्षमा) इति । त्यागे वितरणे सत्यपि श्लाघाया विकत्थनस्य विपर्ययोऽभावः । अत्राह मनुः—(न दत्त्वा परिकीर्तयेद्) इति । इत्थं तस्य गुणा ज्ञानादयो गुणैर्विरुद्धैर्मौनादिभिरनुबन्धित्वात्सहचारित्वात् सह प्रसवो जन्म येषां ते सप्रसवाः सोदरा इवाभूवन् । विरुद्धा अपि गुणास्तस्मिन्नविरोधेनैव स्थिता इत्यर्थः ।

अ०—ज्ञाने, मौनं, शक्तौ, क्षमा, त्यागे, श्लाघाविपर्ययः, 'इत्थं' तस्य, गुणाः, गुणानुबन्धित्वात् , सप्रसवाः, इव, 'अभूवन्' इति शेषः ।

वा०—ज्ञाने मौनेन, शक्तौ क्षमया, त्यागे श्लाघाविपर्ययेण, तस्य गुणैर्गुणानुबन्धित्वात् सप्रसवैरिवाभावि ।

सुधा—ज्ञाने=परवृत्तान्तावगमे, 'सत्यपि' मौनं=वाणीनियमनं, शक्तौ = प्रतीकारसामर्थ्येऽपि, क्षमा = अपकारसहिष्णुता, त्यागे = दाने, 'सत्यपि' श्लाघाविपर्य्ययः=स्वप्रशंसनाभावः 'इत्थं' तस्य=दिलीपस्य, गुणाः=ज्ञानप्रभृतयः, गुणानुवन्धित्वाद् = विरुद्धमौनादिगुणसहचारित्वात्, सप्रसवाः = सोदर्य्याः, इव=यथा, अभूवन्निति शेषः । परस्परविरुद्धा अपि ज्ञानमौनादिप्रभृतयो गुणास्तत्राविरोधेनैवासन्निति भावः ।

स०—गुणैरनुबन्धित्वं गुणानुबन्धित्वं तस्माद् गुणानुबन्धित्वात् ।

को०—'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः । 'अत्त्री चाटु चटु श्लाघा प्रेरण मिथ्या विकत्थनम्' । 'मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्त्वशौर्य्यसन्ध्यादिके गुणः' इत्यमरः । 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः ।

ता०—दिलीपः परवृत्तान्तज्ञानवानपि प्रयोजनं विना तन्न वदति, प्रतीकारकरणक्षमोऽप्यपकारकर्तुरुपेक्षणं करोति, दाता सन्नपि नात्मविकत्थनं करोतिस्म ।

इन्दुः—दूसरे के वृत्तान्त को जानते हुये भी उस विषय में चुप रहना, सामर्थ्य रहने पर भी अपकार सहन करना, दान करने पर भी अपनी बड़ाई न करना इस प्रकार से उस राजा दिलीप के ज्ञानादिक गुण-विरुद्ध मौनादिक गुणों के साथ रहने से सहोदर के समान हुये ॥ २२ ॥

द्विविधं, वृद्धत्वं, ज्ञानेन वयसा च । तत्र तस्य ज्ञानेन वृद्धत्वमाह—

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना ॥ २३ ॥

सञ्जी०—अनाकृष्टेति । विषयैः शब्दादिभिः 'रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी' इत्यमरः । अनाकृष्टस्यावशीकृतस्य विद्यानां वेदवेदाङ्गादीनां पारदृश्वनः पारमन्तं दृष्टवतः । दृशेः क्वनिप् । धर्मे रतिर्यस्य तस्य राज्ञो जरसा जरया विना । 'विस्रसा जरा' इत्यमरः । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः, 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः । वृद्धत्वं वार्धकमासीत् । तस्य यूनो विषयवैराग्यादिज्ञानगुणसम्पत्त्या ज्ञानतो वृद्धत्वमासीदित्यर्थः । नाथस्तु-चतुर्विधं वृद्धत्वमिति ज्ञात्वा 'अनाकृष्टस्य' इत्यादिना विशेषणत्रयेण वैराग्यज्ञानशीलवृद्धत्वान्युक्तानीत्यवोचत् ।

अ०—विषयैः, अनाकृष्टस्य, विद्यानां, पारदृश्वनः, धर्मरतेः, तस्य, जरसा विना, वृद्धत्वम्, आसीत् । वा०—विषयैरनाकृष्टस्य विद्यानां पारदृश्वनो धर्मरतेस्तस्य जरसा विना वृद्धत्वेनाभावि ।

सुधा—विषयैः = गन्धरसरूपस्पर्शशब्दैः, अनाकृष्टस्य=अवशीकृतस्य, विद्यानां= वेदवेदाङ्गादीनाम्, पारदृश्वनः = अन्तं दृष्टवतः, धर्मरतेः = पुण्यासक्तेः, तस्य = दिलीपस्य, जरसा विना=वृद्धावस्थामन्तरेण, वृद्धत्वम्=वार्द्धकम्, आसीत्=अभूत् । तस्य युवावस्थाऽऽपन्नस्य राज्ञो विषयविरक्त्यादिगुणशालितयैव ज्ञानतो वृद्धत्वमासीदिति ।

स०—न आकृष्टोऽनाकृष्टस्तस्यानाकृष्टस्य । पारं दृष्टवानिति पारदृश्वा तस्य पारदृश्वनः ।

को०—'स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्यमरः । 'स्यात् स्थाविरं तु वृद्धत्वं वृद्धसङ्घेऽपि वार्द्धकम्' इत्यमरः ।

ता०—विषयेभ्यो विरक्तोऽधीतवेदवेदाङ्गसकलविद्यो धर्माचरणतत्परो दिलीपो युवाऽपि सन् वृद्ध इवाभूत् ।

इन्दुः—विषयादिकों से नहीं खींचे जाते हुए (विषयों के वश में न होते हुये), विद्याओं के पार देखने वाले (अन्त करनेवाले), धर्म में रुचि रखने वाले उस राजा दिलीप को वृद्धावस्था (आये) विना उक्त विशेषणों से वृद्धता प्रकट हुई ॥ २३ ॥

द्विविधं पितृत्वं रक्षणेनोत्पादनेन च । तत्र तस्य रक्षणेन पितृत्वमाह--

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥ २४ ॥

सञ्जी०--प्रजानामिति । प्रजायन्त इति प्रजा जनाः 'उपसर्गे च संज्ञायाम्' इति डप्रत्ययः । 'प्रजा स्यात्संततौ जने' इत्यमरः । तासां विनयस्य शिक्षाया आधानात्करणात् सन्मार्गप्रवर्तनादिति यावत् । रक्षणाद् भयहेतुभ्यस्त्राणाद् आपन्निवारणादिति यावत् । भरणादन्नपानादिभिः पोषणादपि । अपिः समुच्चये । स राजा पिताऽभूत् । तासां पितरस्तु जन्महेतवो जन्ममात्रकर्तारः केवलमुत्पादका एवाभूवन् । जननमात्र एव पितॄणां व्यापारः । सदा शिक्षारक्षणादिकं तु स एव करोतीति तस्मिन्पितृत्वव्यपदेशः । आहुश्च--(स पिता यस्तु पोषकः) इति ।

अ०--प्रजानां, विनयाधानाद्, रक्षणाद्, भरणाद्, अपि, सः, पिता, 'अभूत्' तासाम्, पितरः, तु, केवलं, जन्महेतवः 'अभूवन्'। वा०–प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद्भरणादपि तेन पित्राऽभूयत, तासां पितृभिः केवलं जन्महेतुभिरभूयत ॥ २४ ॥

सुधा--प्रजानां=जनानां स्वशासनाधीनानामिति भावः। विनयाधानात्=नम्रतादिगुणशिक्षाकरणात् सन्मार्गनयनादिति यावत्। रक्षणात्=पालनात्, चौरादिभयहेतुभ्य इति शेषः। भरणात्=पोषणाद्, अन्नपानादिभिरिति शेषः। अपि=समुच्चये, सः=दिलीपः, पिता=रक्षिता, जनको वा, आसीदिति शेषः। तासां=प्रजानाम्, पितरः=जनकाः, तु=किन्तु, केवलं जन्महेतवः=उत्पत्तिमात्रकारणानि, अभूवन्निति शेषः ॥ २४ ॥

स०—विशेषेण नयः विनयः, तस्याधानं विनयाधानं तस्माद् विनयाधानात्।

को०—'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः। 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः। 'हेतुर्ना कारणं बीजम्' इत्यमरः।

ता०—दिलीपप्रजानां पितरस्तु केवलं जन्मदातार एवाभूवन्, किन्तु तासां विनयादिशिक्षको भयहेतुभ्यो रक्षकोऽन्नवस्त्रादिभिः पोषको दिलीप एवाभूत् ॥ २४ ॥

इन्दुः—नम्रता आदि की शिक्षा देने से, आपत्तियों से बचाने से और अन्नादिकों के द्वारा पोषण करने से, वे दिलीप ही प्रजाओं के पिता हुए, और उन प्रजाओं के पिता तो केवल जन्म देने ही में कारण हुए ॥ २४ ॥

*तस्यार्थकामावपि धर्म एवास्तामित्याह—

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥ २५ ॥

सञ्जी०—स्थित्या इति। दण्डमर्हन्तीति दण्ड्याः 'दण्डादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः। (अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥) इति शास्त्रवचनात्। तान्दण्ड्यानेव स्थित्यै लोकप्रतिष्ठायै दण्डयतः शिक्षयतः। प्रसूतये संतानायैव परिणेतुर्दारान्परिगृह्णतः। मनीषिणो विदुषः। दोषज्ञस्येति यावत्। 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः। धीरो मनीषी' इत्यमरः। तस्य दिलीपस्यार्थकामावपि धर्म एवास्तां जातौ। अस्तेर्लङ्। अर्थकामसाधनयोर्दण्डविवाहयोर्लोकस्थापनप्रजोत्पादनरूपधर्मार्थत्वेनानुष्ठानादर्थकामावपि धर्मशेषतामापादयन्स राजा धर्मोत्तरोऽभूदित्यर्थः। आह च गौतमः–'न पूर्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णानफलान्कुर्याद् यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यस्तेषु धर्मोत्तरः स्यात्।' इति।

अ०—दण्ड्यान्, 'एव' स्थित्यै, दण्डयतः, प्रसूतये, परिणेतुः, मनीषिणः, तस्य, अर्थकामौ, अपि धर्मः, एव, आस्ताम्। वा०—स्थित्यै दण्ड्यान् दण्डयतः, प्रसूतये परिणेतुः, मनीषिणस्तस्यार्थकामाभ्यामपि धर्मेणैवाभूयत।

सुधा--दण्ड्यान्=दण्डयोग्यान्, अपराधिन इति यावत् एवेति शेषः। स्थित्यै=

प्रतिष्ठायै, लोकस्येति शेषः । दण्डयतः = शिक्षयतः, प्रसूतये = सन्तानाय, एवेति शेषः । परिणेतुः = कृतदारपरिग्रहस्य, मनीषिणः = विदुषः, दोषाणामिति शेषः । तस्य = दिलीपस्य, अर्थकामावपि=अर्थकामाख्यौ, पुरुषार्थावपि, धर्म एव=सुकृतमेव, आस्ताम् = अभूताम् ।

स०—मनस ईषा मनीषा साऽस्त्यस्मिन्निति मनीषी मनीषिणः ।

को०—'अर्थो हेतौ प्रयोजने । निवृत्तौ विषये वाच्ये प्रकारद्रव्यवस्तुषु' इति हैमः । 'इच्छामनोभवौ कामौ' इत्यमरः 'स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्यमरः ।

ता०—स दिलीपोऽपराधानुसारेण दण्डयोग्यानां दण्डदानात् तथा पुत्रेच्छया विवाहकरणात् परमधार्मिकोऽभूत् ।

इन्दुः—'लोकमर्यादा की' स्थिति के लिये अपराधियों को दण्ड देने वाले, सन्तान के लिये विवाह करने वाले 'अत एव' बुद्धिमान् उस राजा दिलीप के अर्थ और काम भी धर्म ही हुए ॥ २५ ॥

*तस्य दिलीपस्येन्द्रेण सह परस्परविनिमयेन सख्यमाह—

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् ।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ २६ ॥

सञ्जी०—दुदोहेति । स राजा यज्ञाय यज्ञं कर्तुं गां भुवं दुदोह । करग्रहणेन रिक्तां चकारेत्यर्थः । मघवा देवेन्द्रः सस्याय सस्यं वर्धयितुं दिवं स्वर्गं दुदोह । द्युलोकान्महीलोके वृष्टिमुत्पादयामासेत्यर्थः । 'क्रियाऽर्थोपपद०' इत्यादिना यज्ञसस्याभ्यां चतुर्थी । एवमुभौ सम्पदो विनिमयेन परस्परमादानप्रतिदानाभ्यां भुवनद्वयं दधतुः पुपुषतुः । राजा यज्ञैरिन्द्रलोकमिन्द्रश्चोदकेन भूलोकं पुपोषेत्यर्थः । उक्तं च दण्डनीतौ—'राजा त्वर्थान्समाहृत्य कुर्यादिन्द्रमहोत्सवम् । प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिमावहेत्' ॥ इति ॥

अ०—सः, यज्ञाय, गां, दुदोह, मघवा, सस्याय, दिवं, 'दुदोह' 'एवम्' उभौ, सम्पद्विनिमयेन, भुवनद्वयं, दधतुः । वा०—तेन यज्ञाय गौर्दुदुहे, मघोना सस्याय द्यौः 'दुदुहे' उभाभ्यां सम्पद्विनिमयेन भुवनद्वयं दधे ।

सुधा—सः = राजा दिलीपः, यज्ञाय = यागाय, यज्ञं कर्तुमिति यावत् । गां = क्षमाम्, पृथ्वीमित्यर्थः । दुदोह = अदुहत्, षष्ठांशरूपकरादानेन पृथ्वीं रिक्तां चकारेत्यर्थः । मघवा=इन्द्रः, सस्याय=धान्याय, सस्यं वर्धयितुमिति यावत् । दिवं=स्वर्गं दुदोह=स्वर्गाद् भूतले वृष्टिं कारयामासेत्यर्थः । 'एवम्' उभौ=इन्द्रदिलीपौ, सम्पद्विनिमयेन=परस्परं सस्यवृष्टिरूपसम्पदोरादानप्रतिदानाभ्याम्, भुवनद्वयं=लोकद्वितयं स्वर्गलोकं मर्त्यलोकञ्चेत्यर्थः । दधतुः = पालयामासतुः, राजा दिलीपो यागैः स्वर्गलोकम् इन्द्रश्च वृष्ट्या मर्त्यलोकं ररक्षतुरिति भावः ।

स०—सम्पदो विनिमयः सम्पद्विनिमयस्तेन सम्पद्विनिमयेन ॥

को०—'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः। 'वृक्षादीनां फलं सस्यम्' इत्यमरः। 'इन्द्रो मरुत्वान्मघवा बिडौजाः पाकशासनः' इत्यमरः। 'सुरलोको द्यौदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्' इत्यमरः। 'सम्पदि। संपत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इत्यमरः। 'जगती लोको, विष्टपं भुवनं जगद्' इत्यमरः।

ता०—सम्पादितसख्याविव इन्द्रदिलीपौ वृष्टियज्ञाभ्यां मर्त्यस्वर्गलोकौ मिथो ररक्षतुः।

इन्दुः—उस राजा दिलीप ने यज्ञ करने के लिये पृथ्वी को 'षष्ठांशरूप' कर ग्रहण द्वारा दुहा, और इन्द्र ने धान्य की वृद्धि होने के लिये स्वर्ग को वृष्टिद्वारा दुहा। 'इस प्रकार से' दोनों (इन्द्र और दिलीप) ने परस्पर 'धन और वृष्टिरूप' अपनी २ सम्पत्ति बदलनें से दोनों 'स्वर्ग और मर्त्य' लोक की रक्षा की ॥ २६ ॥

*तस्य राज्ये तस्करभयं नासीदित्याह—

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥ २७ ॥

सञ्जी०—नेति। राजानोऽन्ये नृपा रक्षतुर्भयेभ्यस्त्रातुस्तस्य राज्ञो यशो नानुययुः किल नानुचक्रुः खलु। कुतः यद्यस्मात्कारणात्तस्करता चौर्यं परस्वेभ्यः परधनेभ्यः स्वविषयभूतेभ्यो व्यावृत्ता सती श्रुतौ वाचकशब्दे स्थिता प्रवृत्ता, अपहार्यान्तराभावात्तस्करशब्द एवापहृत इत्यर्थः। अथवा (अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि) इति न्यायेन शब्दे स्थिता स्फुरिता न तु स्वरूपतोऽस्तीत्यर्थः।

अ०—राजानः, रक्षितुः, तस्य, यशः, न, अनुययुः, किल, यत्, तस्करता, परस्वेभ्यः, व्यावृत्ता 'सती' श्रुतौ, स्थिता। वा०—'अन्यैः' राजभी रक्षितुस्तस्य यशो नानुयये किल, यत्, तस्करतया परस्वेभ्यो व्यावृत्तया 'सत्या' श्रुतौ स्थितयाऽभावि।

सुधा—राजानः = अन्ये नरपतयः, रक्षितुः त्रातुः, 'भयेभ्यः' इति शेषः। तस्य= राज्ञो दिलीपस्य, यशः = कीर्त्तिं, न = नहि, अनुययुः = अनुचक्रुः, किल = प्रसिद्धौ। यत् = यस्मात् कारणात्, तस्करता = चौर्यम्, परस्वेभ्यः = अन्यदीयधनेभ्यः, स्वविषयभूतेभ्य इति भावः। व्यावृत्ता = पराङ्मुखीभूता 'सती'। श्रुतौ=श्रवणे, तस्करतेत्यर्थप्रतिपादके वाचकशब्द इति भावः। स्थिता = प्रवृत्ता, अपहार्यान्तराभावात्तस्करशब्द एवापहृत इत्यर्थः। अथवा श्रुतौ = ध्वनौ 'रवमात्रे' स्थिता = अस्थात्, तस्करता केवलं श्रूयत एव नहि परधनार्थं प्रवर्तते।

स०—परेषां स्वानि परस्वानि तेभ्यः परस्वेभ्यः।

को०—'यशः कीर्त्तिः समज्ञा च' इत्यमरः। 'परः श्रेष्ठारिदूरान्योत्तरे क्लीवं तु केवले' इति मेदिनी। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्य-

मरः । 'श्रुतिः श्रोत्रे तथाम्नाये वार्त्तायां श्रोत्रकर्मणि' इति विश्वः ।

ता०—भयेभ्यस्त्रातुर्दिलीपस्य राज्ञो यशोऽन्ये नृपा नानुचक्रुः, यतस्तद्राज्ये न वस्तुतश्चौर्य्यमभूत् किन्तु चौर्य्यशब्दः केवलं लोकानां श्रवणगोचर एवाभूत् ।

इन्दुः—अन्य राजा लोग 'भय से' रक्षा करने वाले उस राजा दिलीप के यश का अनुकरण नहीं कर सके, क्योंकि उसके राज्य में चोरी 'यह शब्द' अपने विषयभूत दूसरे के द्रव्य से पृथक् होती हुई केवल श्रवणगोचर हुई । अथवा–चोरी अर्थवाचक चोरी शब्द के ही चुराने में प्रवृत्त हुई ॥ २७ ॥

*तस्य शिष्ट एव प्रियो दुष्ट एवाप्रिय आसादित्याह—

द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥ २८ ॥

सञ्जी०—द्वेष्य इति । शिष्टो सज्जनो द्वेष्यः शत्रुरपि । आर्त्तस्य रोगिण औषधं यथौषधमिव । तस्य संमतोऽनुमत आसीत् । दुष्टो जनः प्रियोऽपि प्रेमास्पदीभूतोऽपि । उरगक्षता सर्पदष्टाऽङ्गुलीव । (छिन्द्याद् बाहुमपि दुष्टात्मनः) इति न्यायात् त्याज्य आसीत् तस्य शिष्ट एव बन्धुर्दुष्ट एव शत्रुरित्यर्थः ।

अ०—शिष्टः, द्वेष्यः, अपि, आर्त्तस्य, औषधं, यथा, तस्य, सम्मतः, 'आसीत्' दुष्टः, प्रियः, अपि, उरगक्षता, अङ्गुली, इव 'तस्य' त्याज्यः, आसीत् ।

वा०—शिष्टेन द्वेष्येणाप्यौषधेन यथा तस्य सम्मतेनाभूयत, दुष्टेन प्रियेणाप्युरगक्षतयाऽङ्गुल्येव त्याज्येनाभूयत ।

सुधा—शिष्टः=सज्जनः, द्वेष्योऽपि=अप्रियोऽपि, शत्रुरपीति यावत् । आर्त्तस्य=दुःखितस्य, रोगेणेति शेषः, रोगिण इति भावः । औषधम्=भेषजं, यथा=इव, तस्य=दिलीपस्य, सम्मतः=अभिमतः, प्रिय इति यावत् । आसीदिति शेषः । दुष्टः=दुर्जनः, प्रियोऽपि=वल्लभोऽपि, सुहृदपीति यावत् । उरगक्षता=सर्पदष्टा, अङ्गुली=करशाखा, इव=यथा, तस्येति शेषः । त्याज्यः=त्यागार्हः, आसीत्=अभूत् । तस्य दिलीपस्य सुजनो बन्धुरसज्जनो रिपुरासीदिति भावः ।

ता०—यथा कटुभैषज्यं रोगग्रस्तस्य प्रियं भवति, तथैव तस्य दिलीपस्यापि सज्जनः शत्रुरपि सन् प्रियोऽभूद्, असज्जनः प्रियतमोऽपि सन् सर्पदष्टाङ्गुलीव त्याज्योऽभूत् ।

इन्दुः—जिस प्रकार रोगी को कड़वी 'हितकर' औषधि भी प्यारी होती है, उसी प्रकार उस राजा दिलीप का द्वेष करने के योग्य 'वैरी' होता हुआ भी सज्जन प्यारा होता था और प्यारा होता हुआ भी दुर्जन साँप से काटी हुई अँगुली की भाँति छोड़ देने के योग्य होता था ॥ २८ ॥

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥ २९ ॥

सञ्जी०—तमिति । वेधाः स्रष्टा । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः' इत्यमरः । तं दिलीपम् । समाधीयतेऽनेनेति समाधिः कारणसामग्री । महाभूतानां यः समाधिस्तेन महाभूतसमाधिना विदधे ससर्ज । नूनं ध्रुवम् । इत्युत्प्रेक्षा । तथाहि । तस्य राज्ञः सर्वे गुणा रूपरसादिमहाभूतगुणवदेव परार्थः परप्रयोजनमेवैकं मुख्यं फलं येषां ते तथोक्ता आसन् । महाभूतगुणोपमानेन कारणगुणाः कार्यं संक्रामन्तीति न्यायः सूचितः ।

अ०—वेधाः, तं, महाभूतसमाधिना, विदधे, नूनं, तथा हि, तस्य, सर्वे, गुणाः, परार्थैकफलाः, आसन् । वा०—वेधसा महाभूतसमाधिना स विदधे नूनं तथा हि तस्य सर्वैर्गुणैः परार्थैकफलैरभूयत ।

सुधा—वेधाः = विधिः, तं=दिलीपम्, महाभूतसमाधिना=पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां कारणसामग्र्या, विदधे=विरचितवान् , नूनं= ध्रुवम्, इत्युत्प्रेक्षा, तथा हि = तेन प्रकारेण हि, तस्य दिलीपस्य, सर्वे = निखिलाः, गुणाः=दयादानदाक्षिण्यादिगुणाः, रूपरसादिमहाभूतगुणवदेव, परार्थैकफलाः = अन्यप्रयोजनमुख्यफलकाः, आसन् = अभूवन् ।

स०—महाभूतानां समाधिः महाभूतसमाधिस्तेन महाभूतसमाधिना । परस्यार्थः परार्थः स एव एकं 'मुख्यं' फलं येषां ते परार्थैकफलाः ।

को०—'नूनं निश्चिततर्कयोः' इति विश्वः । 'भूतं क्ष्माऽऽदौ पिशाचादौ न्याय्ये सत्योपमानयोः' इति विश्वः । 'अर्थो हेतौ प्रयोजने' इति हैमः ।

ता०—ब्रह्मा यथा यया कारणसामग्र्या महाभूतपञ्चकं निर्मितवांस्तया सामग्र्यैव तथा दिलीपमपि निर्ममौ, अत एव पञ्चमहाभूतगुणवदस्यापि सर्वे शौर्यादयो गुणाः परप्रयोजनमुख्यफलका आसन् ।

इन्दुः—ब्रह्मा जी ने उस राजा दिलीप को महाभूतों (पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश) के कारण की सामग्री से बनाया था, निश्चय करके-उस राजा दिलीप के सभी 'शौर्यादि' गुण 'पञ्चमहाभूतों के रूपरसादि गुणों के तुल्य' पराये प्रयोजन वाले ही थे ॥ २९ ॥

तस्य चक्रवर्त्तित्वमाह—

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥ ३० ॥

सञ्जी०—स इति । स दिलीपः । वेलाः समुद्रकूलानि । 'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति विश्वः । ता एव । वप्रवलयाः प्राकारवेष्टनानि यस्यास्ताम् । 'स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम् । प्राकारो वरणः शालः प्राचीनं प्रान्ततो वृतिः' इत्यमरः । परितः खातं परिखा दुर्गवेष्टनम् । 'खातं खेयं तु परिखा' इत्यमरः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इत्यत्रापिशब्दात्खनेर्डप्रत्ययः । अपरिखाः परिखाः सम्पद्यमानाः कृताः परिखीकृताः सागरा यस्यास्ताम् । अभूततद्भावे च्विः । अविद्यमानमन्यस्य राज्ञः शासनं यस्यास्तामनन्यशा-

सनामुर्वीमेकपुरीमिवं शशास। अनायासेन शासितवानित्यर्थः।

अ०—सः, वेलावप्रवलयाम् परिखीकृतसागराम्, अनन्यशासनाम्, उर्वीम्, एकपुरीम्, इव, शशास। वा०—तेन वेलावप्रवलया परिखीकृतसागराऽनन्यशासनोर्वी, एकपुरीव शशासे।

सुधा—सः=दिलीपः, वेलावप्रवलयां=समुद्रकूलप्राकारवेष्टनाम्, परिखीकृतसागरां=दुर्गवेष्टनीकृतोदधिम्, अनन्यशासनां=स्वेतरशासनरहिताम्, उर्वीम्=पृथ्वीम् एकपुरीम्=एकनगरीम्, इव=यथा, शशास=शासितवान्, प्रयासं विनैवासमुद्रं पृथ्वीं ररक्षेति भावः।

स०—वप्राण्येव वलया वप्रवलयाः वेला एव वप्रवलया यस्याः सा वेलावप्रवलया तां वेलावप्रवलयाम्। परितः खाताः परिखा न परिखा अपरिखाः अपरिखाः परिखाः सम्पद्यमानाः कृता इति परिखीकृताः, परिखीकृताः सागरा यस्याः सा परिखीकृतसागरा तां परिखीकृतसागराम्। अन्यस्य शासनम् अन्यशासनम् अविद्यमानमन्यशासनं यस्याः साऽनन्यशासना तामनन्यशासनाम्।

को०—'उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यमरः। 'सर्वंसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा' इत्यमरः। 'परः श्रेष्ठारिदूरान्योत्तरे क्लीवं तु केवले' इत्यमरः। 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम्' इत्यमरः।

ता०—स दिलीप आसमुद्रान्तभूमेः शासनमनायासेन सामान्याया एकनगर्या एवाकरोत्।

इन्दुः—उस राजा दिलीप ने समुद्र का किनारा है कङ्कण की तरह चहारदीवारी जिसकी, और समुद्र है खाई जिसकी, ऐसी अन्य किसी राजा से शासन नहीं की जाती हुई पृथ्वी का एक नगरी की भांति शासन किया॥ ३०॥

*तस्य पत्न्या नामाह—

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥ ३१॥

सञ्जी०—तस्येति। तस्य राज्ञो मगधवंशे जाता मगधवंशजा। 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति डप्रत्ययः। एतेनाभिजात्यमुक्तम्। दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तनम्। 'दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्तिषु इति शाश्वतः। तेन रूढं प्रसिद्धम्। तेन नाम्ना। अध्वरस्य यज्ञस्य दक्षिणा दक्षिणाख्या पत्नीव सुदक्षिणेति प्रसिद्धा पत्न्यासीत्। अत्र श्रुतिः—(यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः) इति। (दक्षिणाया दाक्षिण्यं नामर्त्विजो दक्षिणत्वप्रापकत्वम्। ते दक्षन्ते दक्षिणां प्रतिगृह्य) इति च।

अ०—तस्य, मगधवंशजा, दाक्षिण्यरूढेन, नाम्ना, अध्वरस्य, दक्षिणा, पत्नी, इव, सुदक्षिणा, इति, 'पत्नी' आसीत्। वा०—तस्य मगधवंशजया दाक्षिण्यरूढेन नाम्नाऽध्वरस्य दक्षिणया पत्न्येव सुदक्षिणयेत्यभूयत।

सुधा—तस्य=दिलीपस्य, मगधवंशजा=मगधदेशीयनृपकुलोत्पन्ना, दाक्षिण्यरूढेन = परच्छन्दानुवर्तनप्रसिद्धेन, नाम्ना = नामधेयेन, अध्वरस्य = यज्ञस्य, दक्षिणा =तदाख्या, पत्नी=भार्या, इव=यथा, सुदक्षिणा, इति=सुदक्षिणेति नाम्ना प्रसिद्धा, 'पत्नी' आसीद् = बभूव, तस्य दिलीपस्य नामतुल्यगुणशालिनी सुदक्षिणानाम्नी भार्याऽऽसीदिति भावः।

स०—दक्षिणस्य भावो दाक्षिण्यं तेन रूढं दाक्षिण्यरूढं तेन दाक्षिण्यरूढेन। मगधानां वंशो मगधवंशः तत्र जाता मगधवंशजा।

को०—'वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः। 'पत्नी पाणिगृहीती च द्वितीया सहधर्म्मिणी' इत्यमरः।

ता०—परच्छन्दानुवर्त्तित्वगुणबाहुल्यात् तस्य दिलीपस्य मनोवृत्तानुसारिणी, अन्वर्थनाम्नी यज्ञस्य पत्नी दक्षिणेव सुदक्षिणेत्याख्या मगधवंशनन्दिनी महिष्यासीत्।

इन्दुः—उस राजा दिलीप की मगधवंश में उत्पन्न हुई दूसरेके मनोऽनुकूल चलने के कारण यज्ञ की पत्नी दक्षिणाकी तरह सुदक्षिणा इस नाम से प्रसिद्ध पटरानी थी।

तस्यानेकासु पत्नीषु सतीष्वपि प्रिया सुदक्षिणैवेत्याह—

कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाऽधिपः ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—कलत्रवन्तमिति। वसुधाऽधिपः, अवरोधेऽन्तःपुरवर्गे महति मनस्विन्या दृढचित्तया पतिचित्तानुवृत्त्यादिनिर्बन्धक्षमयेत्यर्थः, तया सुदक्षिणया लक्ष्म्या चात्मानं कलत्रवन्तं भार्यावन्तं मेने। 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः। वसुधाऽधिप इत्यनेन वसुधया चेति गम्यते।

अ०—वसुधाऽधिपः, अवरोधे, महति, अपि, मनस्विन्या, तदा लक्ष्म्या, च आत्मानं, कलत्रवन्तं मेने। वा०—वसुधाऽधिपेनावरोधे महत्यपि मनस्विन्या तया लक्ष्म्या चात्मा कलत्रवान् मेने।

सुधा—वसुधाऽधिपः = पृथ्वीपतिः, दिलीप इति भावः। अवरोधे = अन्तःपुरवर्गे महत्यपि = बाहुल्येन सत्यपि, मनस्विन्या = पतिचित्तानुवृत्त्यादिस्वधर्मे दृढचित्तया, तया = सुदक्षिणया, लक्ष्म्या = श्रिया, राज्यस्येति शेषः। च, आत्मानं=स्वं, कलत्रवन्तम् = भार्यावन्तम्, मेने = अवगतवान्।

स०—वसूनि दधातीति वसुधा तस्या अधिपो वसुधाऽधिपः।

को०—'स्त्र्यगारं भूभुजामन्तःपुरं स्यादवरोधनम्। शुद्धान्तश्चावरोधश्च' इत्यमरः। 'संपत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इत्यमरः। 'वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा' इत्यमरः।

ता०—तस्य दिलीपस्य बहुषु स्त्रीगणेषु सत्स्वपि स्वानुकूलाचरणतया स्ववशवर्तितया च लक्ष्मीः सुदक्षिणा च द्वे एव प्रिये पत्न्यौ यथाऽर्थंत आस्ताम्।

इन्दुः—उस राजा दिलीप का रनिवास बहुत बड़ा होने पर भी (बहुत सी रानियां

होने पर भी) दृढचित्त सुदक्षिणा और लक्ष्मी से ही वह अपने को स्त्रीवाला समझता था ॥ ३२ ॥

*दिलीपः स्वपत्न्यां बहुदिनावधि पुत्रोत्पत्तिप्रतीक्षणं कृतवानित्याह—

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—तस्यामिति । स राजा । आत्मानुरूपायां तस्याम् । आत्मनो जन्म यस्यासावात्मजन्मा पुत्रः । तस्मिन्समुत्सुकः । यद्वा । आत्मनो जन्मनि पुत्ररूपेणोत्पत्तौ समुत्सुकः सन् । (आत्मा वै पुत्रनामासि) इति श्रुतेः । विलम्बितं फलं पुत्रप्राप्तिरूपं येषां तैर्मनोरथैः कदा मे पुत्रो भवेदित्याशाभिः कालं निनाय यापयामास ।

अ०—सः, आत्मानुरूपायां, तस्याम्, आत्मजन्मसमुत्सुकः, 'सन्' विलम्बितफलैः मनोरथैः, कालं, निनाय । वा०—तेनात्मानुरूपायां तस्यामात्मजन्मसमुत्सुकेन 'सता' विलम्बितफलैर्मनोरथैः कालो निन्ये ।

सुधा—सः = राजा दिलीपः, आत्मानुरूपायां = स्वसदृशि, तस्यां = सुदक्षिणायाम् । आत्मजन्मसमुत्सुकः = पुत्रोत्पत्तीष्टार्थोद्युक्तः, पुत्रप्राप्तौ सोद्योग इति भावः । सन्निति शेषः । विलम्बितफलैः = चिरायितपुत्रप्राप्तिहेतुकृतैः, मनोरथैः = काङ्क्षाभिः कदा मे पुत्रो भविष्यतीत्यात्मकैरिति भावः । कालं = समयं । निनाय = नीतवान् ।

स०—आत्मनो जन्म आत्मजन्म आत्मजन्मनि समुत्सुकः आत्मजन्मसमुत्सुकः । विलम्बितं फलं येषान्ते विलम्बितफलास्तैर्विलम्बितफलैः ।

को०—'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतिः । 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः । 'कालो मृत्यौ महाकाले समये यमकृष्णयोः' इति मेदिनी ।

ता०—स्वमनोऽनुकूलायां तस्यां सुदक्षिणायां पुत्रोत्पादनोत्सुको दिलीपो बहुदिवसानि व्यतीयाय ।

इन्दुः—उस 'राजा दिलीप' ने अपने मन के अनुरूप उस 'सुदक्षिणा' में पुत्र के जन्म के विषय में उत्सुक होते हुए, विलम्ब है जिसके फलमें ऐसी 'कब मुझे पुत्र होगा' आकाङ्क्षा से समय बिताया ॥ ३३ ॥

*सन्तानार्थमुद्योक्तुं प्रवृत्तस्य राज्ञो मन्त्रिवर्गे राज्यभारसमर्पणमित्याह—

संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—संतानेति । तेन दिलीपेन । संतानोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मै संतानार्थाय विधयेऽनुष्ठानाय । स्वभुजादवतारिताऽवरोपिता जगतो लोकस्य गुर्वी धूर्भारः सचिवेषु निचिक्षिपे निहिता ।

अ०—तेन, सन्तानार्थाय, विधये, स्वभुजाद्, अवतारिता, जगतः, गुर्वी, धूः, सचिवेषु, निचिक्षिपे। वा०—स सन्तानार्थाय विधये स्वभुजादवतारितां जगतो गुर्वीं, धुरं, सचिवेषु निचिक्षेप।

सुधा—तेन = राज्ञा दिलीपेन, सन्तानार्थाय = वंशप्रयोजनाय, पुत्रार्थायेति यावत्। विधये = विधानाय, अनुष्ठानायेति यावत्। स्वभुजाद् = आत्मबाहोः, अवतारिता = अवरोपिता, जगतः = लोकस्य, गुर्वी = दुर्भरा, धूः = भारः, कार्यस्येति शेषः। सचिवेषु = मन्त्रिषु, निचिक्षिपे=स्थापयामास।

स०—सन्तानोऽर्थः प्रयोजनं यस्यासौ सन्तानार्थस्तस्मै सन्तानार्थाय।

को०—'वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः। 'अर्थो हेतौ प्रयोजने' इति हैमः। 'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमरः। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्यमरः। 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः। 'मन्त्री सहायः सचिवौ' इत्यमरः।

ता०—पुत्रप्रयोजनकमनुष्ठानं कर्तुं समुत्सुको दिलीपो राज्यभारं मन्त्रिषु स्थापयामास।

इन्दुः—उस राजा दिलीप ने सन्तानप्राप्ति के लिए अनुष्ठान 'करने' के निमित्त अपने बाहु पर से उतारे हुए जगत् के बड़े भारी (प्रजापालनरूप कार्य-) भार को मन्त्रियों के ऊपर रख दिया॥ ३४॥

*पुत्रप्राप्तिकाम्यया दिलीपस्य स्वगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमे गमनमित्याह—

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम्॥ ३५॥

सञ्जी०—अथेति। अथ धुरोऽवतारानन्तरं पुत्रकाम्ययाऽऽत्मनः पुत्रेच्छया 'काम्यच्च' इति पुत्रशब्दात्काम्यच्प्रत्ययः। 'अप्रत्ययात्' इति पुत्रकाम्यतेरप्रत्ययः। ततष्टाप्। तया तौ दम्पती जायापती। राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दमिति निपातनात्साधुः। प्रयतौ पूतौ विधातारं ब्रह्माणमभ्यर्च्य 'स खलु पुत्रार्थिभिरुपास्यते' इति मान्त्रिकाः। गुरोः कुलगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमं जग्मतुः पुत्रप्राप्त्युपायापेक्षयेति शेषः।

अ०—पुत्रकाम्यया, प्रयतौ, तौ, दम्पती, विधातारम्, अभ्यर्च्य, गुरोः, वसिष्ठस्य, आश्रमं, जग्मतुः।

सुधा—अथ = मन्त्रिषु राज्यधुरः स्थापनानन्तरम्, पुत्रकाम्यया = सुतेच्छया, प्रयतौ = पवित्रौ, तौ=सुदक्षिणादिलीपौ, दम्पती=जायापती, विधातारम्=विधिम्, अभ्यर्च्य=सम्पूज्य, गुरोः=कुलगुरोः, वसिष्ठस्य=तन्नामकस्य महर्षेः ब्रह्मणो मानसपुत्रस्येति यावत्। आश्रमं=वासस्थानं, जग्मतुः = ययतुः, पुत्रप्राप्त्युपायजिज्ञासयेति शेषः।

को०—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः। 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड् विधिः' इत्यमरः। 'पवित्रः प्रयतः पूतः' इत्यमरः। 'आत्मजस्त-

नयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियान्त्वमी' इत्यमरः । 'दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ' इत्यमरः । 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः ।

ता०—पुत्रप्राप्त्युपायजिज्ञासया सुदक्षिणादिलीपौ ब्रह्माणमभ्यर्च्य स्वकुलगुरोर्दिव्यचक्षुषो वसिष्ठस्याश्रमं जग्मतुः ।

इन्दुः—मन्त्रियों के ऊपर राज्यभार सौंपने के अनन्तर पुत्र की कामना से पवित्र हो, वे दोनों स्त्रीपुरुष सुदक्षिणा और दिलीप ब्रह्मा की पूजा करके गुरु वसिष्ठ के आश्रम को गये ॥ ३५ ॥

*तयोरेकरथेन वसिष्ठाश्रमगमनमित्याह—

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—स्निग्धेति । स्निग्धो मधुरो गम्भीरो निर्घोषो यस्य तमेकं स्यन्दनं रथम् । प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः । 'प्रावृष एण्यः' इत्येण्यप्रत्ययः । तं प्रावृषेण्यं पयोवाहं मेघं विद्युदैरावताविव । आस्थितावारूढौ जग्मतुरिति पूर्वेण सम्बन्धः । इरा आपः । 'इरा भूवाक्सुराऽप्सु स्यात्' इत्यमरः । इरावान्समुद्रः । तत्र भव ऐरावतोऽभ्रमातङ्गः । 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः । 'अभ्रमातङ्गत्वाच्चाभ्रस्थरूपत्वात्' इति क्षीरस्वामी । अत एव मेघारोहणं विद्युत्साहचर्यञ्च घटते । किञ्च विद्युत ऐरावतसाहचर्यादैरावती संज्ञा । ऐरावतस्य स्त्र्यैरावतीति क्षीरस्वामी । तस्मात्सुष्ठूक्तं विद्युदैरावताविवेति । एकरथारोहणोक्त्या कार्यसिद्धिबीजं दम्पत्योरत्यन्तसौमनस्यं सूचयति ।

अ०—स्निग्धगम्भीरनिर्घोषम्, एकं, स्यन्दनम्, प्रावृषेण्यम्, पयोवाहं, विद्युदैरावतौ, इव, आस्थितौ, 'तौ जग्मतुः' । वा०—स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनं प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताभ्यामिवास्थिताभ्यां 'ताभ्यां जग्मे' ।

सुधा—स्निग्धगम्भीरनिर्घोषम् = मधुरगम्भीरनिःस्वनम्, एकम् = अद्वितीयं, स्यन्दनं=रथं, प्रावृषेण्यं= वर्षाकालिकम्, पयोवाहम् = मेघं, विद्युदैरावतौ=क्षणप्रभाऽभ्रमातङ्गौ, इव=यथा, आस्थितौ=आरूढौ, 'तौ जग्मतुः' इति पूर्वश्लोकेन सम्बन्धः । एकरथारोहणोक्त्या कार्यसिद्धिकारणीभूता दम्पत्योर्मिथोऽत्यन्तमैत्री सूचिता ।

को०—'चिक्कणं मसृणं स्निग्धम्' इत्यमरः । 'स्वाननिर्घोषनिर्ह्रादनादनिस्वाननिस्वनाः' इत्यमरः । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । 'याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गः स्यन्दनो रथः' इत्यमरः । 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि, वर्षाः' इत्यमरः । 'सलिलं कमलं जलम् । पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः । 'शम्पाशतह्रदाह्रादिन्यैरावत्यः क्षणप्रभा । तडित्सौदामनी विद्युच्चञ्चला चपला अपि' इत्यमरः ।

ता०—यथा मेघारूढौ विद्युदैरावतौ तथैव, एकरथमारूढौ तौ सुदक्षिणादिलीपौ प्रययतुः ।

इन्दुः—मधुर और गम्भीर शब्द करने वाले, एक ही रथ पर वर्षा काल के मेघ के ऊपर चढ़े हुये, विजली और ऐरावत हाथी की भाँति वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप चले ॥ ३६ ॥

*सेनाविरहितयोस्तयोर्गमने कारणमाह—

मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—मा भूदिति । पुनः किंभूतौ दम्पती । आश्रमपीडा मा भून्मास्त्विति हेतोः । 'माङि लुङ्' इत्याशीरर्थे लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमनिषेधः । परिमेयपुरःसरौ मितपरिचरौ । अनुभावविशेषात्तु तेजोविशेषात्सेनापरिवृताविव स्थितौ ।

अ०—'पुनः किम्भूतौ दम्पती' आश्रमपीडा, माभूद्, इति, परिमेयपुरःसरौ, अनुभावविशेषात्, तु, सेनापरिवृतौ, इव, 'तौ जग्मतुः' । वा०—आश्रमपीडया मा भावीति परिमेयपुरःसराभ्यामनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताभ्यामिव 'ताभ्यां जग्मे' ।

सुधा—'पुनः किम्भूतौ तौ दम्पती' आश्रमपीडा=वसिष्ठस्थानबाधा, मा भूद्=न ह्यस्तु, इति=अस्माद्, हेतोरिति शेषः । परिमेयपुरःसरौ=परिमिताग्रेसरौ स्वल्पसङ्ख्याकपरिचरपरिवृताविति यावत् । अनुभावविशेषात=प्रभावातिशयात्, तेजोऽतिशयादिति यावत् । तु=किन्तु, सेनापरिवृतौ=सैन्यसमन्वितौ, इव=यथा, स्थितौ जग्मतुरिति शेषः ॥ ३७ ॥

स०—पुरः सरन्तीति पुरःसराः, राज्ञामग्रे यायिनोऽनुचराः, परिमातुं शक्याः परिमेयाः, परिमेयाः पुरःसराः ययोस्तौ परिमेयपुरःसरौ ।

को०—'पुरोगाग्रेसरप्रष्ठाग्रतःसरपुरःसराः' इत्यमरः । 'अनुभावः प्रभावे च सतां मतिविनिश्चये' इत्यमरः । 'ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः । वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

ता०—सैन्येन सह गमने जनसमुदायेन गुरोराश्रमपीडा भविष्यतीत्याशंक्याः ल्पपरिचरावपि सुदक्षिणादिलीपौ प्रभावाधिक्यादपरिमितपरिचरपरिवृताविव दृश्यमानौ जग्मतुः ।

इन्दुः—गुरु वसिष्ठ के आश्रम को पीडा न हो, इस 'कारण' से थोड़े 'इने-गिने' नौकरों (राजा के आगे-आगे चलने वालों) से युक्त होते हुये भी प्रभाव की अधिकता के कारण से सेना से घिरे हुये की भाँति 'दिखलाई पड़ते हुये' वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप चले जाते थे ॥ ३७ ॥

मार्गे तयोः सुखदवायुभिः सेव्यमानयोर्गमनमित्याह—

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः ।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—सेव्यमानाविति । पुनः कथंभूतौ । सुखशीतलत्वात्प्रियः स्पर्शो येषां तैः ।

शालनिर्यासगन्धिभिः सर्जतरुनिस्यन्दगन्धवद्भिः । 'शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति शाश्वतः । उत्किरन्ति विक्षिपन्तीत्युत्किराः । 'इगुपध०' इत्यादिना किरतेः कप्रत्ययः । पुष्परेणूनामुत्किरास्तैराधूता मान्द्यादीषत्कम्पिता वनराजयो यैस्तैर्वातैः सेव्यमानौ ।

अ०—'पुनः कथम्भूतौ' सुखस्पर्शैः, शालनिर्यासगन्धिभिः, पुष्परेणूत्किरैः, आधूतवनराजिभिः, वातैः, सेव्यमानौ, 'तौ जग्मतुः' । वा०—सुखस्पर्शाच्छालनिर्यासगन्धिनः पुष्परेणूत्किरानाधूतवनराजीन् वातान् सेवमानाभ्यां 'ताभ्यां जग्मे' ।

सु०—सुखस्पर्शैः = आनन्दप्रदस्पर्शैः, प्रियस्पर्शैरिति यावत् । शालनिर्यासगन्धिभिः = सर्जतरुनिस्यन्दगन्धवद्भिः, पुष्परेणूत्किरैः = प्रसूनपरागविक्षेपकैः, आधूतवनराजिभिः = ईषत्कम्पितकाननपङ्क्तिभिः, वातैः = पवनैः, सेव्यमानौ = परिचर्यमाणौ 'तौ दम्पती जग्मतुः' । एतेन सुखकरवायुसञ्चारेणाभीष्टसिद्धिस्तयोः सूचिता ।

स०—शालेभ्यो निर्यासाः, शालनिर्यासाः, शालनिर्यासाश्च ते गन्धाः शालनिर्यासगन्धाः, शालनिर्यासगन्धाः सन्त्येषु ते शालनिर्यासगन्धिनस्तैः शालनिर्यासगन्धिभिः । उत्किरन्तीत्युत्किराः पुष्पाणां रेणवः पुष्परेणवः तेषामुत्किराः पुष्परेणूत्किरास्तैः पुष्परेणूत्किरैः । आङ्=ईषद् धूता आधूताः वनस्य राजयो वनराजयः आधूता वनराजयो यैस्ते, आधूतवनराजयस्तैराधूतवनराजिभिः ।

को०—'परागः कौसुमे रेणौ धूलिस्नानीययोरपि । गिरिप्रभेदे विख्यातावुपरागे च चन्दने' इति कोशान्तरम् । 'परागः सुमनोरजः' इति चामरः । 'नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः' इत्यमरः । 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः । 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी लेखास्तु राजयः' इत्यमरः ।

ता०—पुत्राप्त्युपायजिज्ञासया गच्छतोस्तयोर्यात्रायां मार्गेऽभीष्टफलप्राप्तिसूचकः सुखस्पर्शो वायुर्ववौ ।

इन्दुः—सुखकर स्पर्शवाली, शालवृक्षोंसे निकली हुई गन्ध से युक्त पुष्पों के परागों को उड़ानेवाली वायु का 'सुदक्षिणा और दिलीप' सेवन करते हुए जाने लगे ।

*मार्गे मयूरवाणीः शृण्वतोस्तयोर्गमनमित्याह—

मनोऽभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—मनोऽभिरामा इति । रथनेमिस्वनोन्मुखैः । मेघध्वनिशङ्कयोन्नमितमुखैरित्यर्थः । शिखण्डिभिर्मयूरैर्द्विधा भिन्नाः शुद्धविकृतभेदेनाविष्कृतावस्थाद्वयाश्च्युताच्युतभेदेन वा षड्जो द्विविधः । तत्साहश्यात्केका अपि द्विधा भिन्ना इत्युच्यते । अत एवाह—षड्जसंवादिनीरिति । षड्भ्यः स्थानेभ्यो जातः षड्जः । तदुक्तं (नासाकण्ठमुरस्तालुजिह्वादन्ताँश्च संस्पृशन् । षड्भ्यः संजायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इति स्मृतः ।) स च तन्त्रीकण्ठजन्मा स्वरविशेषः । 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः ।' इत्यमरः । षड्जेन संवादिनीः सदृशीः ।

तदुक्तं मातङ्गेन—(षड्जं मयूरो वदति) इति। मनोऽभिरामाः, मनसः प्रियाः। के मूर्धनि कायन्ति ध्वनन्तीति केका मयूरवाण्यः 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः। ता केकाः शृण्वन्तौ, इति श्लोकार्थः।

अ०—रथनेमिस्वनोन्मुखैः, शिखण्डिभिः, द्विधा, भिन्नाः, षड्जसंवादिनीः, मनोऽभिरामाः, केकाः, शृण्वन्तौ, 'तौ दम्पती जग्मतुः' वा०—रथनेमिस्वनोन्मुखैः शिखण्डिभिर्द्विधा भिन्नाः षड्जसंवादिनीर्मनोऽभिरामाः केकाः 'शृण्वद्भ्यां' ताभ्यां जग्मे।

सुधा—रथनेमिस्वनोन्मुखैः=स्यन्दनचक्रप्रान्तनिनादोन्नमिताननैः, मेघध्वनिशङ्कयोर्ध्वमुखैरिति यावत्। शिखण्डिभिः=मयूरैः, द्विधा=द्विप्रकाराः, शुद्धविकृतभेदेनेति शेषः। भिन्नाः=भेदमापन्नाः, द्वैधीभूताः इत्यर्थः। षड्जसंवादिनीः=तन्त्रीकण्ठविनिःसृतस्वरविशेषानुसारिणीः, मनोऽभिरामाः=हृदयप्रियाः, मानसानन्ददायिनीरित्यर्थः। केकाः=मयूरवाणीः, शृण्वन्तौ=आकर्णयन्तौ 'तौ सुदक्षिणादिलीपौ जग्मतुः'

स०—अभिरमते मनो यासु ता अभिरामाः मनसोऽभिरामा मनोभिरामास्ता मनोऽभिरामाः। रथस्य नेमी रथनेमिः तयोः स्वनो रथनेमिस्वनः। उद् ऊर्ध्वं मुखं येषान्ते, उन्मुखाः रथनेमिस्वनेनोन्मुखा रथनेमिस्वनोन्मुखास्तै रथनेमिस्वनोन्मुखैः। षड्भ्यः स्थानेभ्यः संजातः षड्जः, संवदितुं शीलमस्त्यासामिति संवादिन्यः षड्जस्य संवादिन्यः षड्जसंवादिन्यस्ताः षड्जसंवादिनीः।

को०—'पुँल्लिङ्गस्तिनिशे नेमिश्चक्रप्रान्ते स्त्रियामपि' इति रुद्रः। 'शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः' इत्यमरः। 'षड्जं मयूरो वदति' इति मातङ्गोक्तिः। 'शिखण्डस्तु, पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः।

ता०—रथचक्रप्रान्तोद्भूतशब्दं मेघध्वनिं मन्यमानानामत एवोर्ध्वमुखानां मयूराणां वाणीः शृण्वन्तौ तौ जग्मतुः।

इन्दुः—रथ के चक्रप्रान्त के शब्द को सुन कर ऊपर मुख किये हुये मयूरों द्वारा दो प्रकार की की हुई, षड्ज स्वर का अनुसरण करनेवाली तथा मन को प्रसन्न करने वाली वाणी को सुनते हुये वे दोनों चले॥ ३९॥

*मृगद्वन्द्वं पश्यतोस्तयोर्गमनम्—

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु॥ ४०॥

सञ्जी०—परस्परेति। विश्रम्भाद् दूरं समीपं यथा भवति तथोज्झितं वर्त्म यैस्तेषु। स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु स्यन्दने रथे आबद्धाऽऽसञ्जिता दृष्टिर्नेत्रं यैस्तेषु। 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः। कौतुकवशाद्रथासक्तदृष्टिष्वित्यर्थः। मृग्यश्च मृगाश्च मृगाः 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः। तेषां द्वन्द्वेषु। मिथुनेषु। 'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्' इत्यमरः। परस्पराणां सादृश्यं पश्यन्तौ। द्वन्द्वशब्दसामर्थ्यान्मृगीषु सदक्षिणाऽक्षिसादृश्यं दिलीपो, दिलीपाक्षिसादृश्यं च मृगेषु सुदक्षिणेत्येवं विवेक्तव्यम्।

अ०—'पुनः कथम्भूतौ' अदूरोज्झितवर्त्मसु, स्यन्दनाऽऽवद्धदृष्टिषु, मृगद्वन्द्वेषु, परस्पराक्षिसादृश्यं, पश्यन्तौ, 'तौ, जग्मतुः' ॥ वा०—अदूरोज्झितवर्त्मसु स्यन्दनावद्धदृष्टिषु मृगद्वन्द्वेषु परस्पराक्षिसादृश्यं पश्यद्भ्यां 'ताभ्यां जग्मे'।

सुधा—'पुनः कथम्भूतौ' अदूरोज्झितवर्त्मसु=सन्निकटत्यक्तमार्गेषु, विश्वासात् पलायनविरहितेष्विति भावः । अत एव—स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु=रथसंलग्ननेत्रेषु, कौतुकवशादिति शेषः । मृगद्वन्द्वेषु=हरिणमिथुनेषु, परस्पराक्षिसादृश्यम्=मिथो नयनसरूपताम्, पश्यन्तौ=विलोकयन्तौ, 'तौ जग्मतुः' । 'अत्र मृगद्वन्द्वेष्विति पदे द्वन्द्वशब्दसामर्थ्याद् मृगीषु सुदक्षिणानेत्रसरूपतां दिलीपः, मृगेषु दिलीपनेत्रसरूपतां सुदक्षिणा च पश्यन्तौ, इति बोद्धव्यम् ।

स०—सदृशस्य भावः सादृश्यम्, अक्ष्णां सादृश्यमक्षिसादृश्यम्, परस्परं च तदक्षिसादृश्यं परस्पराक्षिसादृश्यम् । न दूरमदूरम्, अदूरं यथा स्यात्तथोज्झितं वर्त्म यैस्तान्यदूरोज्झितवर्त्मानि तेषु, अदूरोज्झितवर्त्मसु । मृगयश्च मृगाश्चेति मृगास्तेषां द्वन्द्वानि मृगद्वन्द्वानि तेषु मृगद्वन्द्वेषु । स्यन्दते यातीति स्यन्दनः तस्मिन्नासमन्ताद्बद्धा दृष्टयो यैस्तानि स्यन्दनावद्धदृष्टीनि तेषु स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ।

कोशः—'मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाजिनयोनयः' इत्यमरः । 'याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गः स्यन्दनो रथः' इत्यमरः ।

ता०—रथमार्गं परित्यज्य विश्वासात् समीपे तिष्ठत्सु हरिणमिथुनेषु दिलीपो हरिणीषु सुदक्षिणानयनसारूप्यं पश्यन् सुदक्षिणा हरिणेषु दिलीपनयनसारूप्यं पश्यन्ती सती च तौ जग्मतुः ।

इन्दु—समीपमें रथ के मार्गको छोड़े हुए, रथ की ओर दृष्टि लगाये हुए, मृग के जोड़ों में परस्पर (एक दूसरों के) आँखों की समानता को देखते हुए (वे दोनों चले) ॥

⊛मार्गे क्वचित् सारसान् पश्यन्तौ जग्मतुरित्याह—

श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—श्रेणीबन्धादिति । श्रेणीबन्धात्पङ्क्तिबन्धाद्धेतोरस्तम्भामाधारस्तम्भरहिताम् । तोरणं बहिर्द्वारम् । 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः । तत्र या स्रग्विरच्यते तां तोरणस्रजं वितन्वद्भिः । कुर्वद्भिरिवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकेवशब्दप्रयोगाभावेऽपि गम्योत्प्रेक्षेयम् । कलनिर्ह्रादैरव्यक्तमधुरध्वनिभिः सारसैः पक्षिविशेषैः । करणैः । क्वचिदुन्नमिताननौ । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः ।

अ०—श्रेणीबन्धाद्, अस्तम्भां, तोरणस्रजं, वितन्वद्भिः, कलनिर्ह्रादैः, सारसैः क्वचिद्, उन्नमिताननौ, 'तौ जग्मतुः' । वा०—श्रेणीबन्धादस्तम्भां तोरणस्रजं वितन्वद्भिः कलनिर्ह्रादैः सारसैः क्वचिदुन्नमिताननाभ्यां 'ताभ्यां जग्मे' ।

सुधा—श्रेणीबन्धात्=पङ्क्तिबन्धनाद्, अस्तम्भाम्=आधारस्तम्भरहितां, तोरण-

स्रजम्=वहिर्द्वारमालां, वितन्वद्भिः=विरचयद्भिः, इवेति शेषः। उत्प्रेक्षावोधके शब्दप्रयोगाभावेऽपि गम्योत्प्रेक्षाऽत्र ज्ञेया। कलनिर्ह्रादैः=मधुरास्फुटध्वनिभि सारसैः=पक्षिविशेषैः, 'करणैः' क्वचित्=कस्मिंश्चित्, स्थल इति शेषः। उन्नमिता नौ=ऊर्ध्वमुखौ, 'तौ जग्मतुः'।

स०—तोरणस्य स्रक् तोरणस्रक् तां तोरणस्रजम्। कलो निर्ह्रादः येषान्ते कल निर्ह्रादास्तैः कलनिर्ह्रादैः। उन्नमिते आनने ययोस्तौ, उन्नमिताननौ।

को०—'वीथ्यालिरावलिः, पङ्क्तिश्रेणीलेखास्तु राजयः' इत्यमरः। 'ध्वनौ मधुरास्फुटे। कलः' इत्यमर। 'स्वाननिर्घोषनिर्ह्रादनादनिस्वाननिस्वनाः' इत्यमरः 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः।

ता०—पङ्क्तिबन्धनं कृत्वाऽऽकाशे मधुराव्यक्तभाषिणः सारसान् स्तम्भरहिता बहिर्द्वारमाल्यसदृशान् क्वचिदूर्ध्वमुखौ पश्यन्तौ तौ जग्मतुः।

इन्दुः—पङ्क्ति बाँधने से (पङ्क्ति बाँध कर चलने से) विना खम्भे के बन्दनवा (की तरह शोभा) को करते हुए, स्पष्ट मधुर शब्द वाले सारस पक्षियों कारण वे कभी कभी ऊपर की ओर मुख किये हुए (वे दोनों चले) ॥ ४१ ॥

गच्छतोस्तयोः पथ्यनुकूलवायुवहनमित्याह—

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—पवनस्येति। प्रार्थनासिद्धिशंसिनोऽनुकूलत्वादेव मनोरथसिद्धिसूच कस्य पवनस्यानुकूलत्वाद् गन्तव्यदिगभिमुखत्वात्। तुरगोत्कीर्णै रजोभिरस्पृष्ट अलका देव्याः वेष्टनमुष्णीषं च राज्ञो ययोस्तौ तथोक्तौ। 'शिरसा वेष्टनशोभिन सतः' इति वक्ष्यति।

स०—प्रार्थनासिद्धिशंसिनः, पवनस्य, अनुकूलत्वात्, तुरगोत्कीर्णैः, रजोभि अस्पृष्टालकवेष्टनौ' 'तौ जग्मतुः'। वा०—प्रार्थनासिद्धिशंसिनः पवनस्यानुकूलत्वा तुरगोत्कीर्णै रजोभिरस्पृष्टालकवेष्टनाभ्यां ताभ्यां जग्मे।

सुधा—प्रार्थनासिद्धिशंसिन=याच्ञापूर्तिविज्ञापकस्य, मनोरथसिद्धिसूचक स्येति भावः। पवनस्य=वातस्य, अनुकूलत्वाद्=गन्तव्यदिगभिमुखत्वाद्, शकुन शास्त्रेऽभिमुखपवनस्य कार्यसिद्धिकरत्वमुक्तम्। तुरगोत्कीर्णैः=अश्वोत्क्षिप्तैः, अश्व खुरोत्क्षिप्तैरित्यर्थः। रजोभिः=धूलिभिः, अस्पृष्टालकवेष्टनौ=असम्पृक्तचूर्णकुन्तलो ष्णीषौ, 'शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः' इति वक्ष्यमाणप्रयोगवशाद्वेष्टनपदेन शिरो वेष्टनं गृह्यते। 'तौ दम्पती जग्मतुः'।

स०—प्रार्थनायाः सिद्धिः प्रार्थनासिद्धिः तां शंसितुं शीलमस्येति प्रार्थनासिद्धि शंसी तस्य प्रार्थनासिद्धिशंसिनः। तुतोर्तीति तुरः तुरो गच्छन्तीति तुरगाः तैरुत्कीर्णानि तुरगोत्कीर्णानि तैस्तुरगोत्कीर्णैः। न स्पृष्टानि अस्पृष्टानि अलकाश्च वेष्टनञ्चेति अलक

वेष्टनानि अस्पृष्टानि अलकवेष्टनानि ययोस्तौ, अस्पृष्टालकवेष्टनौ ।

को०—'याच्ञाऽभिशस्तिर्याचनार्थना' इत्यमरः । 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः । 'घोटके वीतितुरगतुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः' इत्यमरः ।

ता०—मनोरथसिद्धिसूचकस्य वायोरनुकूलत्वात् तुरगखुरोत्था धूलयो राज्ञो दिलीपस्योष्णीषं राज्ञ्याः सुदक्षिणायाश्च कुटिलकेशान् नास्पृशन् ।

इन्दुः—मनोरथ की सिद्धि को सूचित करने वाली वायु की अनुकूलता (सम्मुख दिशा की तरफ बहने) के कारण, घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूलि से 'सुदक्षिणा' के घुँघराले बाल और 'दिलीप' के सिरपेंच नहीं छुये गये 'ऐसे वे दोनों चले' ॥४२॥

*मार्गे कमलानां गन्धं जिघ्रतोस्तयोर्गमनमित्याह—

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—सरसीष्विति । सरसीषु वीचिविक्षोभशीतलं भूमिसंघट्टनेन शीतलं स्वनिःश्वासमनुकर्तुं शीलमस्येति स्वनिःश्वासानुकारिणम् । एतेन तयोरुत्कृष्टस्त्रीपुंसजातीयत्वमुक्तम् । अरविन्दानामामोदमुपजिघ्रन्तौ घ्राणेन गृह्णन्तौ ।

अ०—सरसीषु, वीचिविक्षोभशीतलं, स्वनिःश्वासानुकारिणम्, अरविन्दानाम्, आमोदम्, उपजिघ्रन्तौ, 'तौ जग्मतुः' । वा०—सरसीषु वीचिविक्षोभशीतलं स्वनिःश्वासानुकारिणमरविन्दानामामोदमुपजिघ्रद्भ्यां 'ताभ्यां जग्मे' ।

सुधा—सरसीषु=सरःसु, वीचिविक्षोभशीतलं=तरङ्गसङ्घट्टनशीतं, स्वनिःश्वासानुकारिणम्=आत्मनिःश्वासानुकरणशीलम्, एतेन तयोः स्त्रीपुंसयोः पद्मिनीशशजातीयत्वमुक्तम् । अरविन्दानां=कमलानाम्, आमोदम्=अतिनिर्हारिणं, सुगन्धिमित्यर्थः । उपजिघ्रन्तौ=नासया गृह्णन्तौ, 'तौ जग्मतुः' ।

स०—वीचीनां विक्षोभो वीचिविक्षोभः, तेन शीतलः वीचिविक्षोभशीतलस्तं वीचिविक्षोभशीतलम् । निःश्वसनं निश्वासः स्वस्य निःश्वासः स्वनिःश्वासः, अनुकर्तुं शीलमस्येति अनुकारी, स्वनिःश्वासस्यानुकारी स्वनिःश्वासानुकारी तं स्वनिःश्वासानुकारिणम् ।

को०—'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः । 'भङ्गस्तरङ्ग ऊर्म्मिर्वा स्त्रियां वीचिः' इत्यमरः । 'सुषीमः शिशिरो जडः । तुषारः शीतलः शीतो हिमः सप्तान्यलिङ्गकाः' इत्यमरः । 'आमोदः सोऽतिनिर्हारी' इत्यमरः । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्यमरः ।

ता०—स्वकीयमुखवातसुगन्धेरनुकारिणं कासारतरङ्गसम्पर्कशीतलमेवंभूतं कमलसौरभं घ्राणेन गृह्णन्तौ तौ जग्मतुः ।

इन्दुः—तालाबों में लहरों के झकोरों से शीतल, अत एव अपने 'मुखकी वायु' निःश्वास की नकल करनेवाले, कमलोंके मनोहर सुगन्धको सूँघते हुए वे दोनों चले ॥४३॥

*यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः प्रदत्तेषु ग्रामेषु तेषामाशीर्वादग्रहणमित्याह—

ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—ग्रामेष्विति । आत्मविसृष्टेषु स्वदत्तेषु । यूपो नाम संस्कृतः पशुबन्धा दारुविशेषः । यूपा एव चिह्नानि येषां तेषु ग्रामेष्वमोघाः सफला यज्वनां विधिनेष्टवताम् । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति ङ्वनिप्प्रत्ययः आशिष आशीर्वादान् । अर्घः पूजाविधिः । तदर्थं द्रव्यमर्घ्यम् । 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः । 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थं पाद्यं पादाय वारिणि' इत्यमरः । अर्घ्यस्यानुपश्चादनुपदम् । अर्घ्यस्वीकारानन्तरमित्यर्थः । प्रतिगृह्णन्तौ स्वीकुर्वन्तौ । पदस्य पश्चादनुपदम् । पश्चादर्थाव्ययीभावः । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः

अ०—आत्मविसृष्टेषु, यूपचिह्नेषु, ग्रामेषु, यज्वनाम्, अमोघाः, आशिषः, अर्घ्यानुपदम्, प्रतिगृह्णन्तौ 'तौ जग्मतुः' । वा—आत्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाममोघा आशिषोऽर्घ्यानुपदं प्रतिगृह्णद्भ्यां जग्मे ।

सुधा—आत्मविसृष्टेषु=स्वदत्तेषु, यूपचिह्नेषु=यज्ञसम्बन्धिपशुबन्धार्थकसंस्कृतदारुविशेषलक्षणेषु, ग्रामेषु = संवसथेषु, यज्वनां=विधिनेष्टवतां, याज्ञिकानामित्यर्थः आशिषः = आशीर्वादान्, अर्घ्यानुपदम् = अर्घ्याव्यवहितोत्तरम्, प्रतिगृह्णन्तौ=स्वीकुर्वन्तौ, तौ जग्मतुः ।

स०—अततीत्यात्मा तेन विसृष्टा आत्मविसृष्टास्तेषु आत्मविसृष्टेषु ।

को०—'समौ संवसथग्रामौ' इति । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इति चामरः । 'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनञ्च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः । 'मोघं निरर्थकम्' इत्यमरः । देवद्विजनृपादिनां पूजाऽर्थान्युपकरणानि—'आपः क्षीरं कुशाग्राणि दधि सर्पिश्च तण्डुलाः । यवः सिद्धार्थकश्चैव ह्यष्टाङ्गार्घ्यः प्रकीर्तितः' ॥

ता०—पथि प्रयान्तौ सुदक्षिणादिलीपौ विधिनेष्टवद्भ्यो विप्रेभ्यो विसृष्टेषु यूपलक्षणेषु ग्रामेषु तत्रत्यानां तेषामाशीर्वादानर्घ्यस्वीकारानन्तरं प्रतिगृह्णन्तौ जग्मतुः ।

इन्दुः—स्वयं 'दान में' दिये हुए यज्ञके स्तम्भों से चिह्नित ग्रामों में विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणों के अव्यर्थ 'कभी निष्फल न जाने वाले' आशीर्वादों को अर्घ्य स्वीकार करने के अनन्तर ग्रहण करते हुए वे दोनों चले' ॥ ४४ ॥

*मार्गे वन्यवृक्षाणां नामानि पृच्छतोस्तयोर्गमनमित्याह—

हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—हैयङ्गवीनमिति । ह्यस्तनगोदोहोद्भवं घृतं हैयङ्गवीनम् । 'तत्तु हैयङ्गवीनं स्याद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्' इत्यमरः । 'हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्' इति निपातः । तत्सद्यो घृतमादायोपस्थितान्घोषवृद्धान् । 'घोष आभीरपल्ली स्याद्' इत्यमरः । वन्यानां

मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छन्तौ । दुह्याच्—' इत्यादिना पृच्छतेर्द्विकर्मत्वम् । कुलकम् ।

अ०—हैयङ्गवीनम्, आदाय, उपस्थितान् , घोषवृद्धान् , वन्यानां, मार्गशाखिनां नामधेयानि, पृच्छन्तौ, 'तौ जग्मतुः' । वा०—हैयङ्गवीनमादायोपस्थितान् घोषवृद्धान् वन्यानां मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छद्भयां 'ताभ्यां जग्मे' ।

सुधा—हैयङ्गवीनं = ह्योगोदोहोद्भवं, सद्योघृतमिति यावद् । आदाय = गृहीत्वा 'राज्ञे निवेदयितुमि'ति शेषः । उपस्थितान् = समीप आगतान् , घोषवृद्धान् = आभीरपल्लीस्थविरान् । वन्यानां = काननोत्पन्नानाम्, मार्गशाखिनां = वर्त्मवृक्षाणां, नामधेयानि = नामानि, पृच्छन्तौ = जिज्ञासमानौ, 'तौ जग्मतुः' । इति कुलकं समाप्तम् ।

स०—घोषे वृद्धा घोषवृद्धास्तान् घोषवृद्धान् । शाखाः सन्त्येषामिति शाखिनः, मार्ग्यत इति मार्गः तत्र शाखिनो मार्गशाखिनः तेषां मार्गशाखिनाम् ।

को०—'आख्याह्वे अभिधानञ्च नामधेयञ्च नाम च' इत्यमरः । 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः । 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः । 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इत्यमरः ।

ता०—सुदक्षिणादिलीपौ स्वसविधे पूर्वदिनोद्भवं घृतमेवोपहारमादाय समुपस्थितानाभीरपल्लीनिवासिन आभीरवृद्धान् किन्नामकोऽसौ मार्गप्ररूढस्तरुः किन्नामकश्च स इत्येवंरूपेण जिज्ञासां कुर्वाणौ जग्मतुः ।

इन्दु—गाय के ताजा दूध का मक्खन लेकर उपस्थित हुये घोष (अहीरों के ग्राम) में (रहने वाले) वृद्धों से जंगली रास्ते के वृक्षों के नामों को पूछते हुये 'वे दोनों चले' ॥ ४५ ॥

ॐतयोर्गच्छतोश्चित्राचन्द्रमसोरिव शोभाऽभूदित्याह—

काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—काऽपीति । व्रजतोर्गच्छतोः शुद्धवेषयोरुज्ज्वलनेपथ्ययोस्तयोः सुदक्षिणादिलीपयोश्चित्राचन्द्रमसोरिव योगे सति काऽप्यनिर्वाच्याऽभिख्या शोभाऽऽसीद् । 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्ययः । चित्रा नक्षत्रविशेषः । शिशिरापगमे चैत्र्यां चित्रापूर्णचन्द्रमसोरिवेत्यर्थः ।

अ०—व्रजतोः, शुद्धवेषयोः, तयोः, हिमनिर्मुक्तयोः, चित्राचन्द्रमसोः, इव योगे, 'सति' काऽपि, अभिख्या, आसीत् । वा०—व्रजतोः शुद्धवेषयोस्तयोर्हिमनिर्मुक्तयोश्चित्राचन्द्रमसोरिव योगे 'सति' कयाऽप्यभिख्ययाऽभूयत ।

सुधा—व्रजतोः = गच्छतोः, मार्गे इति शेषः । शुद्धवेषयोः = निर्मलनेपथ्ययोः, तयोः = सुदक्षिणादिलीपयोः, हिमनिर्मुक्तयोः = तुषारत्यक्तयोः, चित्राचन्द्रमसोः =

चित्राऽऽख्यताराचन्द्रयोः, इव = यथा, योगे = सङ्गतौ, सतीति शेषः। काऽपि = अनिर्वाच्या, अभिख्या = शोभा, आसीद् = अभवत्।

स०—चित्रा च चन्द्रमाश्चेति चित्राचन्द्रमसौ तयोश्चित्राचन्द्रमसोः।

को०—'आकल्पवेषौ नेपथ्यम् प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमरः। 'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्। प्रालेयं मिहिका च' इत्यमरः। 'योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु' इति मेदिनी।

ता०—यथा शिशिरान्ते चैत्रपूर्णिमायां चित्राचन्द्रमसोः सङ्गतौ सत्यां शोभाऽलौकिकी भवति, तथैव निर्मलवेषयोः सुदक्षिणादिलीपयोरपि शोभाऽभूदिति।

इन्दुः—जाते हुये उज्वल वेष वाले उन दोनों (सुदक्षिणा और दिलीप) की तुषार से निर्मुक्त हुये चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा के समान योग होने पर अनिर्वचनीय शोभा हुई॥ ४६॥

*पत्न्यै मार्गेऽद्भुतवस्तुजातं दर्शयतो दिलीपस्य गमनमित्याह—

तत्तद् भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः॥ ४७॥

सञ्जी०—तत्तदिति। प्रियं दर्शनं स्वकर्मकं यस्यासौ प्रियदर्शनः। योगदर्शनीय इत्यर्थः। भूमिपतिः पत्न्यै तत्तदद्भुतं वस्तु दर्शयँल्लङ्घितमतिवाहितमप्यध्वानं न बुबुधे न ज्ञातवान्। बुधः सौम्य उपमोपमानं यस्येति विग्रहः। इदं विशेषणं तत्तद्दर्शयन्नित्युपयोगितयैवास्य ज्ञातृत्वसूचनार्थम्।

अ०—प्रियदर्शनः, बुधोपमः, भूमिपतिः, तत्तत्, पत्न्यै, दर्शयन्, लङ्घितम्, अपि, अध्वानं न, बुबुधे। वा०—प्रियदर्शनेन बुधोपमेन भूमिपतिना तत्तद् 'वस्तु' पत्न्यै दर्शयता लङ्घितोऽप्यध्वा न बुबुधे।

सुधा—प्रियदर्शनः = हृद्यावलोकनः, बुधोपमः = चन्द्रपुत्रोपमानः, भूमिपतिः = धराऽधिपः, दिलीप इति शेषः। तत्तद् = अद्भुतं वस्तु, पत्न्यै = भार्यायै, दर्शयन् = अवलोकयन्, लङ्घितमपि = अतिवाहितमपि, अध्वानम् = पन्थानं, न = नहि, बुबुधे = अबोधिष्ट।

स०—पातीति पतिः, भवन्ति भूतान्यस्यामिति भूमिः तस्याः पतिर्भूमिपतिः। को०—'बुधवृद्धौ पण्डितेऽपि' 'अपिशब्दात् सौम्येऽपि' इति। 'उपमोपमानं स्याद्' इति सर्वत्राप्यमरः।

ता०—'सौम्यवपुर्दिलीपः सुदक्षिणायै मार्गेऽद्भुतवस्तूनि प्रदर्शयन् 'कियद्दूरमागतोऽस्मीति' न ज्ञातवानिति।

इन्दुः—देखने में सुन्दर, 'अत एव' चन्द्रपुत्र बुध के समान, राजा 'दिलीप' अद्भुत वस्तुओं को रानी 'सुदक्षिणा' को दिखलाते हुये लांघे हुये (पीछे छोड़े हुये) मार्ग को भी न जान सके॥ ४७॥

*सुदक्षिणादिलीपयोर्वशिष्ठाश्रमप्रापणमित्याह—

स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—स इति । दुष्प्रापयशा दुष्प्रापमन्यदुर्लभं यशो यस्य स तथोक्तः । श्रान्तवाहनो दूरोपगमनात्क्लान्तयुग्यः । महिष्याः सखा महिषीसखः 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् प्रत्ययः । सहायान्तरनिरपेक्ष इति भावः । स राजा सायं सायं काले संयमिनो नियमवतस्तस्य महर्षेर्वशिष्ठस्याश्रमं प्रापत्प्राप । पुषादित्वादङ् ।

अ०—दुष्प्रापयशाः, श्रान्तवाहनः, महिषीसखः, सः, सायं, संयमिनः, तस्य, महर्षेः, आश्रमम्, प्रापत् । वा०—दुष्प्रापयशसा श्रान्तवाहनेन महिषीसखेन तेन सायं संयमिनस्तस्य महर्षेराश्रमः प्रापि ।

सुधा—दुष्प्रापयशाः=अन्यदुर्लभकीर्तिः, श्रान्तवाहनः = परिक्लान्तयुग्यः दूरमार्गगमनजनितायासेन परिश्रान्ततुरङ्गम इति भावः । महिषीसखः = कृताभिषेकपत्नीसहायः, सुदक्षिणासहित इत्यर्थः । सः=दिलीपः, सायं=सायंकाले, संयमिनः=इन्द्रियनिग्रहवतः, तस्य=पूर्वोक्तस्य, निजकुलगुरोरिति भावः । महर्षेः=, अतिसत्यवचसः वशिष्ठस्येति यावद् । आश्रमम्=पर्णकुटीम् , प्रापत्=प्राप ।

स०—दुःखेन प्राप्तुं शक्यं दुष्प्रापम्, दुष्प्रापं यशो यस्य स दुष्प्रापयशाः । मह्यते पूज्यत इति महिषी, तस्याः सखा महिषीसखः ।

को०—'शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म तद्यमः' इति । 'ऋषयः सत्यवचसः' इति । 'कृताभिषेका महिषी' इति । 'अथ मित्रं सखा सुहृद्' इति सर्वत्राप्यमरः ।

ता०—अन्यदुर्लभकीर्तिः सुदक्षिणासहितो दिलीपः सन्ध्यासमये वशिष्ठाश्रमंप्रापत्

इन्दुः—'दूसरों के लिये, दुर्लभ यश वाले, थके हुए हैं वाहन जिसके, ऐसे पटरानी सुदक्षिणा के सहित वे राजा दिलीप, सायंकाल के समय संयम रखने वाले उन पूर्वोक्त कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे ॥ ४८ ॥

तमाश्रमं विशिनष्टि—

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥ ४९ ॥

सञ्जी०—वनान्तरादिति । वनान्तरादन्यस्माद्वनादुपावृत्तैः प्रत्यावृत्तैः । समिधश्च कुशांश्च फलानि चाहर्तुं शीलं येषामिति समित्कुशफलाहरास्तैः 'आङि ताच्छील्ये' इति हरतेराङ्पूर्वादच्प्रत्ययः । अदृश्यैर्दर्शनायोग्यैरग्निभिर्वैतानिकैः । प्रत्युद्याताः प्रत्युद्गतास्तैः तपस्विभिः पूर्यमाणम् । 'प्रोष्यागच्छतामाहिताग्नीनामग्नयः प्रत्युद्यान्ति' इति श्रुतेः । यथाऽऽह—'कामं पितरं प्रोपितवन्तं प्रत्याधावन्ति एवमेतमग्नयः प्रत्याधावन्ति सशकलान्दारूनिवाहरन्' इति ।

अ०—वनान्तराद्, उपावृत्तैः, समित्कुशफलाहरैः, अदृश्याग्निप्रत्युद्यातैः, तपस्विभिः, पूर्यमाणम्, 'आश्रमं प्रापद्' इति कुलकत्वात् पूर्वश्लोकादाक्षिप्यते ।

वा०—वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैरदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः पूर्यमाण आश्रमः प्रापि ।

सुधा—वनान्तराद् = विपिनान्तराद्, अन्यस्माद्वनादित्यर्थः । उपावृत्तैः=प्रतिनिवृत्तैः, समित्कुशफलाहरैः=दारुदर्भफलाहरणशीलैः, अदृश्याग्निप्रत्युद्यातैः=अलक्ष्यवैतानिकवह्निप्रत्युद्गतैः, तपस्विभिः=तापसैः, पूर्यमाणं=व्याप्तम् , 'आश्रमः प्रापद्, इति पूर्वश्लोकेन सह सम्बन्धः कुलकत्वात् ।

स०—समिधश्च कुशाश्च फलानि चेति समित्कुशफलानि तान्याहर्तुं शीलमेषान्ते समित्कुशफलाहराः तैः समित्कुशफलाहरैः । अदृश्याश्च तेऽग्नय इत्यदृश्याग्नयः तैरदृश्याग्निभिः प्रत्युद्याता इत्यदृश्याग्निप्रत्युद्यातास्तैस्तथोक्तैः ।

को०—'काष्ठ दार्विन्धनन्त्वेध इध्ममेधः समित्स्त्रियाम्' इति । 'तपस्वी तापस पारिकाङ्क्षी' इति चामरः ।

ता०—सन्ध्यासमये सर्वे तापसा विपिनान्तरात् समित्कुशफलान्यादाय स्वस्वमाश्रमं समागच्छन्ति । बाला यथा प्रवासादायातान् स्वकीयपित्रादीन् दूरादेवावलोक्य मिष्टान्नादीनां लोभेन वर्त्मन्येव प्रत्युद्यान्ति, तथैव तेषां साग्निकानां तापसानां पुत्रस्वरूपा होमाग्नयोऽग्न्यन्यैरदृष्टाः सन्तो यज्ञकाष्ठादिभोज्यलोभात्तान् प्रत्युद्यान्तीति ।

इन्दुः—दूसरे जंगल से लौटे हुए, समिधा, कुश और फल के लानेवाले, दूसरों से नहीं दिखाई पड़ते हुए अग्नि के द्वारा अगवानी किये गये तपस्वियों से भरे हुए 'आश्रम में पहुँचे' ॥ ४९ ॥

आश्रमस्थमृगवर्णनमित्याह—

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥ ५० ॥

सञ्जी०—आकीर्णमिति । नीवाराणां भाग एव भागधेयोऽशः 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति वक्तव्यसूत्रात्स्वार्थिधेये धेयप्रत्ययः तस्योचितैः । अत एवोटजानां पर्णशालानां द्वाररोधिभिर्मृगैर्ऋषिपत्नीनामपत्यैरिव । आकीर्ण व्याप्तम् ।

अ०—नीवारभागधेयोचितैः, उटजद्वाररोधिभिः, मृगैः, ऋषिपत्नीनाम्, अपत्यैः, इव, आकीर्णम्, (आश्रमम् प्रापद्) वा०—नीवारभागधेयोचितैरुटजद्वाररोधिभिर्मृगैर्ऋषिपत्नीनामपत्यैरिवाकीर्ण आश्रमः प्रापि ।

सुधा—नीवारभागधेयोचितैः = तृणधान्यांशयोग्यैः, उटजद्वाररोधिभिः = पर्णशालाद्वारावरोधकारिभिः, मृगैः = हरिणैः, ऋषिपत्नीनां = सत्यवचोभार्याणाम्, अपत्यैः=पुत्रैः, इव=यथा, आकीर्णं=व्याप्तम्, 'आश्रमम् प्रापद्' इति ।

स०—उटजानां द्वाराणि, उटजद्वाराणि तानि रोद्धुं शीलमेषान्ते, उटजद्वाररोधि-

नस्तैरुटजद्वाररोधिभिः । भाग एव भागधेयः नीवाराणां भागधेयो नीवारभागधेयः तस्योचिताः नीवारभागधेयोचिताः, तैर्नीवारभागधेयोचितैः ।

को०—'मुनीनां तु पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इति । 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इति । 'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियान्त्वमी । आहुर्दुहितरं सर्वेऽपत्यं तोकं तयोः समे' इति । 'तृणधान्यानि नीवाराः' इति । 'अंशभागौ तु वण्टके' इति सर्वत्राप्यमरः । 'उचितं प्रोक्तमभ्यस्ते मिते ज्ञाते समञ्जसे' इति विश्वप्रकाशः ।

ता०—ऋषिपत्नीनामपत्यानि यथा तृणधान्यभागग्रहणार्थं पर्णशालाद्वारं रुद्ध्वा तिष्ठन्ति, तथैव मृगा अपि सर्वत्रासन् ।

इन्दुः—तृणधान्य के भाग को पाने वाले, 'तथा' पर्णशाला 'कुटी के द्वार को रोकने वाले, ऋषिपत्नियों की सन्तानों की तरह मृगों से भरे हुये, 'आश्रम में पहुँचे' ॥ ५० ॥

आश्रमस्थ पक्षिणां सद्यः सेचिततरुमूलजलपानमित्याह—

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—सेकान्ते वृक्षमूलसेचनावसाने मुनिकन्याभिः सेक्त्रीभिः । आलवालेषु जलावापप्रदेशेषु यदम्बु तत्पायिनाम् । 'स्यादालवालमावालमावापः' इत्यमरः । विहङ्गानां पक्षिणां विश्वासाय विश्रम्भाय । 'समौ विश्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः । तत्क्षणे सेकक्षण उज्झिता वृक्षका ह्रस्ववृक्षा यस्मिंस्तम् । ह्रस्वार्थे कप्रत्ययः ।

अ०—सेकान्ते, मुनिकन्याभिः, आलवालाम्बुपायिनां, विहङ्गानां, विश्वासाय, तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्, 'आश्रमं प्रापत्' वा०—आलवालाम्बुपायिनां विहङ्गानां विश्वासाय मुनिकन्याभिः सेकान्ते तत्क्षणोज्झितवृक्षकः आश्रमः प्रापि ।

सुधा—सेकान्ते = वृक्षकमूलसेचनावसाने, मुनिकन्याभिः = वाचंयमकुमारीभिः (कर्त्रीभिः) सेक्त्रीभिरिति शेषः । आलवालाम्बुपायिनां=जलावापप्रदेशजलपानशीलानां, विहङ्गानाम् = पक्षिणां, विश्वासाय = विश्रम्भाय, तत्क्षणोज्झितवृक्षकं = तत्समयपरित्यक्तह्रस्वतरुम्, 'आश्रमं प्रापत्' ।

स०—तच्च तत् क्षणं तत्क्षणं तस्मिन्नुज्झितास्तत्क्षणोज्झिताः ह्रस्वा वृक्षा वृक्षकाः तत्क्षणोज्झिता वृक्षका यस्मिन् स तत्क्षणोज्झितवृक्षकस्तं तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् । आलवालेष्वम्बु आलवालाम्बु तत्पातुं शीलमेषान्ते आलवालाम्बुपायिनः तेषामालवालाम्बुपायिनाम् ।

को०—'अन्तं स्वरूपे नाशे ना न स्त्री शेषेऽन्तिके त्रिषु' इति मेदिनी । 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इति । 'खगे विहङ्गविहगविहङ्गमविहायसः । शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इति । 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्' इति चामराः ।

ता०—यत्राश्रमे मुनिकुमारिका ह्रस्ववृक्षमूलसेचनं कृत्वा तत्क्षणे वृक्षमूलं परित्यजन्ति, यतो विश्वस्ताः सन्तः पक्षिणस्तत्रत्यं जलं पिबन्तु, इति बुद्ध्या, एवंभूतमाश्रमं प्रापत् ।

इन्दुः—वृक्षों की क्यारियों का जल पीना जिनका स्वभाव है, ऐसे पक्षियों के विश्वास के लिये (अर्थात्—कोई भय नहीं है ऐसा विश्वास दिलाने के लिये मुनिकन्याओं के द्वारा सीचे जाने के उपरान्त तत्काल ही छोड़े गये हैं छोटे वृक्ष जिसमें 'ऐसे आश्रम में पहुँचे' ॥ ५१ ॥

*तत्रत्यानां मृगाणां रोमन्थवर्त्तनमित्याह—

आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—आतपस्यात्ययेऽपगमे सति संक्षिप्ता राशीकृता नीवारास्तृणधान्यानि यासु तासु । 'नीवारास्तृणधान्यानि' इत्यमरः । उटजानां पर्णशालानामङ्गनभूमिषु चत्वरभागेषु 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इति । 'अङ्गनं चत्वराजिरे' इति चामरः निषादिभिरुपविष्टैर्मृगैर्वर्तितो निष्पादितो रोमन्थश्चर्वितचर्वणं यस्मिन्नाश्रमे तम् ।

अ०—आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु, उटजाङ्गनभूमिषु, निषादिभिः, मृगैः वर्तितरोमन्थम् 'आश्रमं प्रापत्' । वा०—आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासूटजाङ्गनभूमिषु निषादिभिर्मृगैर्वर्त्तितरोमन्थः 'आश्रमः प्रापि' ।

सुधा—आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु = सूर्यप्रभान्ते राशीकृततृणधान्यासु, उटजाङ्गनभूमिषु = पर्णशालाचत्वरभूभागेषु, निषादिभिः = उपवेशिभिः, मृगैः = हरिणैः वर्तितरोमन्थं = कृतचर्वितचर्वणम्, 'आश्रमं प्रापत्' ।

स०—आ समन्तात् तापयतीत्यातपः तस्यात्ययः आतपात्ययः तस्मिन् सति संक्षिप्ता आतपात्ययसंक्षिप्ताः ते नीवारा यासु ता आतपात्ययसंक्षिप्तनीवाराः तास्वातपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु । वर्त्तितो रोमन्थो यत्र स वर्तितरोमन्थस्तं वर्त्तितरोमन्थम् । भवन्ति भूतान्यास्विति भूमयः अङ्गनस्य भूमयोऽङ्गनभूमयः उटजानामङ्गनभूमय उटजाङ्गनभूमयस्तासूटजाङ्गनभूमिषु ।

को०—'प्रकाशो द्योत आतपः' इति । 'स्यात्पञ्चता कालधर्मो दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः' इति । 'तृणधान्यानि नीवाराः' इति । 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इति चामरः ।

ता०—यत्र दिनान्ते, एकत्रराशीकृततृणधान्येषु पर्णशालाचत्वरभूभागेषु सुखोपविष्टा मृगाश्चर्वितचर्वणं कुर्वन्ति तमाश्रमं प्रापत् ।

इन्दुः—घाम के न रहने पर इकट्ठे किये गये हैं नीवार नामक धान्य जिसमें, ऐसी पर्णशाला के आँगन की भूमि में बैठने वाले, हरिण जहाँ पागुर कर रहे हैं 'ऐसे आश्रम में पहुँचे' ॥ ५२ ॥

ॐतत्रत्यो हुतहवनीयद्रव्यगन्धयुक्तो धूम इत्याह—

अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—अभ्युत्थितेति । अभ्युत्थिताः प्रज्वलिताः । होमयोग्या इत्यर्थः । समिद्धेऽग्नावाहुतीर्जुहोति) इति वचनात् । तेषामग्नीनां पिशुनैः सूचकैः, पवनोद्धूतैः । आहुतिगन्धो येषामस्तीत्याहुतिगन्धिनस्तैर्धूमैराश्रमोन्मुखानतिथीन् पुनानं पवित्रीकुर्वाणम् ॥ कुलकम् ॥

अ०—अभ्युत्थिताग्निपिशुनैः, पवनोद्धूतैः, आहुतिगन्धिभिः, धूमैः, आश्रमोन्मुखान्, अतिथीन्, पुनानम् 'आश्रमं प्रापत्' । वा०—अभ्युत्थिताग्निपिशुनैः पवनोद्धूतैराहुतिगन्धिभिर्धूमैराश्रमोन्मुखानतिथीन् पुनानः 'आश्रमः प्रापि' ।

सुधा—अभ्युत्थिताग्निपिशुनैः = प्रज्वलितवह्निसूचकैः, पवनोद्धूतैः=वातोत्क्षिप्तैः, आहुतिगन्धिभिः = हवनीयद्रव्यगन्धवद्भिः, धूमैः = धूम्रैः, आश्रमोन्मुखान् = वशिष्ठस्थानमभिलक्ष्यीकृत्यागन्तुमुत्सुकान्, अतिथीन् = अभ्यागतान् । पुनानम् = पवित्रीकुर्वाणम्, 'आश्रमं प्रापत्' ।

स०—अङ्गन्तीत्यग्नयः अभ्युत्थिताश्च तेऽग्नयोऽभ्युत्थिताग्नयः तेषां पिशुना अभ्युत्थिताग्निपिशुनाः तैरभ्युत्थिताग्निपिशुनैः आश्रम उन्मुखा आश्रमोन्मुखास्तानाश्रमोन्मुखान् । पुनातीति पवनः तेनोद्धूताः पवनोद्धूतास्तैः पवनोद्धूतैः । आहवनमाहुतिस्तस्या गन्ध आहुतिगन्धः सोऽस्त्येषामित्याहुतिगन्धिनः तैराहुतिगन्धिभिः ।

को०—'पिशुनं कुङ्कुमेऽपि च । कपिवक्त्रे च काके ना सूचकक्रूरयोस्त्रिषु' इति मेदिनी । 'स्युरावेशिक आगन्तुरतिथिर्ना गृहागते' इत्यमरः । 'आश्रमो ब्रह्मचर्यादौ वानप्रस्थे मठे वने' इति मेदिनी । 'नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः' इत्यमरः । 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः ।

ता०—वशिष्ठादिमुनिकृतहोमगन्धमिश्रितैः पवनोत्क्षिप्तैर्धूमैरतिथीन् पवित्रीकुर्वाणमाश्रमं प्रापद् । इति कुलकं समाप्तम् ।

इन्दुः—प्रज्वलित अग्नि को सूचित करने वाली 'तथा' वायुसे फैले हुए आहुति के गन्ध से मिले हुए धूएँ से आश्रम की ओर आने के लिए उन्मुख अतिथियों को पवित्र करने वाले 'आश्रम' में पहुँचे ॥ ५३ ॥

ॐआश्रमप्राप्त्यनन्तरं रथादवतरणमित्याह—

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः ।
तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथाश्रमप्राप्त्यनन्तरं स राजा यन्तारं सारथिं, धुरं, वहन्तीति धुर्या युग्याः । 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः । 'धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुर-

न्धराः' इत्यमरः। धुर्यान् रथाश्वान्विश्रामय विनीतश्रमान्कुर्वित्यादिश्याज्ञाप्य तां पत्नीं रथादवारोहयदवतारितवान्स्वयं चावततार। 'विश्रमय' इति ह्रस्वपाठे 'जनी जृष०' इति मित्त्वं 'मितां ह्रस्वः' इति सूत्रे 'वा चित्तविरागे' इत्यतो 'वा' इत्यनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणाद्ध्रस्वाभाव इति वृत्तिकारः।

अ०—अथ, सः, यन्तारं, धुर्य्यान्, विश्रामय, इति, आदिश्य, ताम्, पत्नीं रथाद्, अवारोहयद्, च, 'स्वयम्' अवततार। वा०—अथ तेन यन्तारं 'स्वय धुर्या विश्राम्यन्ताम्' इत्यादिश्य सा पत्नी रथादवारोह्यत स्वयं चावतेरे।

सुधा—अथ = आश्रमप्राप्त्यनन्तरं, सः=राजा दिलीपः, यन्तारं = सारथिं, धुर्यान् = धूर्वहान्, रथस्येति शेषः। अश्वानिति यावद्। विश्रामय = अपगताध्वश्रमान् कुरु। इति = इत्याकारकम्, आदिश्य = आदेशङ्कृत्वा, ताम् = पूर्वोक्ताम्, पत्नीं = सहधर्मिणीं, सुदक्षिणामिति भावः, रथात्=स्यन्दनाद्, अवारोहयद्=अवतारितवान् च, 'स्वयम्' अवततार = अवारुरोह।

स०—यच्छतीति यन्ता तं यन्तारम्। धुरं वहन्तीति धुर्य्यास्तान् धुर्य्यान्।

को०—'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः। सव्येष्ठदक्षिणस्थौ च संज्ञा रथकुटुम्बिनः' इति। 'धूर्वहे धुर्य्यधौरेयधुरीणाः सधुरन्धराः' इति। 'याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गः स्यन्दनो रथः' इति सर्वत्राप्यमरः।

ता०—आश्रमप्राप्त्यनन्तरं स राजा दिलीपोऽश्वानां मार्गश्रमं दूरीकर्त्तुं, सारथिमाज्ञाप्य सपत्नीको रथादवततार।

इन्दुः—उसके बाद वह 'राजा दिलीप' सारथि को 'घोड़ों को विश्राम कराओ, यह आज्ञा देकर उस 'अपनी' स्त्री 'सुदक्षिणा' को रथसे उतारे और स्वयम् भी उतरे ॥ ५४ ॥

*मुनयो दिलीपार्हणां चक्रुरित्याह—

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—सभायां साधवः सभ्याः। 'सभाया यः' इति यप्रत्ययः। गुप्ततमेन्द्रिया अत्यन्तनियमितेन्द्रिया मुनयः सभार्याय गोप्त्रे रक्षकाय। नयः शास्त्रमेव चक्षुस्तत्त्वावेदकं प्रमाणं यस्य तस्मै नयचक्षुषे। अत एवार्हते। प्रशस्ताय। पूज्यायेत्यर्थः। 'अर्हः प्रशंसायाम्' इति शतृप्रत्ययः। तस्मै राज्ञेऽर्हणां पूजां चक्रुः। 'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्याऽर्चाऽर्हणाः समाः' इत्यमरः।

अ०—सभ्याः, गुप्ततमेन्द्रियाः, मुनयः सभार्याय, गोप्त्रे, नयचक्षुषे, अर्हते, तस्मै, अर्हणां चक्रुः। वा०—सभ्यैर्गुप्ततमेन्द्रियैर्मुनिभिः सभार्याय गोप्त्रे नयचक्षुषेऽर्हते तस्मै, अर्हणां चक्रे।

सुधा-सभ्याः=सभासदः, गुप्ततमेन्द्रियाः=अतिशयरक्षितहृषीकाः, मुनयः = वाचं-

यमाः, वेदशास्त्रार्थतत्त्वावगन्तार इति यावत् । सभार्याय = सपत्नीकाय, गोप्त्रे = पालकाय, नयचक्षुषे = नीतिशास्त्रनेत्राय, अर्हते = पूजाऽर्हा, तस्मै = राज्ञे दिलीपाय, अर्हणां = पूजां, चक्रुः = विदधुः ।

स०—अतिशयेन गुप्तानि गुप्ततमानि तानीन्द्रियाणि येषान्ते गुप्ततमेन्द्रियाः ।

को०—'सभासदः सभास्तारः सभ्याः सामाजिकाश्च ते' इति । 'वाचंयमो मुनिः' इति चामरः ।

ता०—वशिष्ठाज्ञया मुनयो नीतिमते रक्षकाय सपत्नीकाय राज्ञे दिलीपाय पूजां विदधुः ।

इन्दुः—सभ्य जितेन्द्रिय मुनियों ने, रानी के सहित, रक्षा करने वाले, नीति-शास्त्ररूपी नेत्रवाले, 'अत एव' पूज्य उन राजा दिलीप की पूजा की ॥ ५५ ॥

*सायङ्कालीनक्रियान्तेऽरुन्धतीसहितस्य गुरोर्दर्शनमित्याह—

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—विधेरिति । स राजा सायन्तनस्य सायम्भुवस्य । 'सायं चिरम्'० इत्यादिना ट्युल्प्रत्ययः । विधेर्जपहोमाद्यनुष्ठानस्यान्तेऽवसानेऽरुन्धत्याऽन्वासितं पश्चादुपवेशनेनोपसेवितम् । कर्मणि क्तः । उपसर्गवशात्सकर्मकत्वम् 'अन्वास्यानाम्' इत्यादिवदुपपद्यते । तपोनिधिं वशिष्ठम् । स्वाहया स्वाहादेव्या । 'अथाग्नायी स्वाहा च हुतभुक्प्रिया' इत्यमरः । अन्वासितं हविर्भुजमिव ददर्श । (समित्पुष्पकुशाग्न्यम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकः । जपं होमं च कुर्वाणो नाभिवाद्यो द्विजो भवेद् ।) इत्यनुष्ठानस्य मध्येऽभिवादननिषेधाद्विधेरन्ते ददर्शेत्युक्तम् । अन्वासनं चात्र पतिव्रताधर्मत्वेनोक्तं न तु कर्माङ्गत्वेन । विधेरन्त इति कर्मणः । समाप्त्यभिधानाद् ।

अ०—सः, सायन्तनस्य, विधेः, अन्ते, अरुन्धत्या, अन्वासितं तपोनिधिं, स्वाहया, अन्वासितं, हविर्भुजम्, इव, ददर्श । वा०—तेन सायन्तनस्य विधेरन्तेऽरुन्धत्याऽन्वासितस्तपोनिधिः स्वाहयाऽन्वासितो हविर्भुगिव ददृशे ।

सुधा—सः=राजा दिलीपः, सायन्तनस्य=सन्ध्याकालीनस्य, विधेः=जपहोमाद्यनुष्ठानस्य, अन्ते = अवसाने, समाप्तावित्यर्थः अरुन्धत्या = अरुन्धतीनाम्न्या स्वपत्न्या, अन्वासितम्=उपासितम्, पश्चादुपवेशनेनेति शेषः । तपोनिधिं = धर्मशेवधिं, वशिष्ठमिति यावद् । स्वाहया = तदाख्ययाऽग्निपत्न्या, 'अन्वासितं' हविर्भुजम् = अग्निम्, इव = यथा, ददर्श = विलोकयामास ।

स०–नि निश्चयेन धीयतेऽस्मिन्निति निधिस्तपसां निधिस्तपोनिधिस्तं तपोनिधिम् ।

को०—'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमरः । 'अन्तं स्वरूपे नाशेऽन्तो न स्त्री शेषेऽन्तिके त्रिषु' इति मेदिनी । 'तपश्चान्द्रायणादौ स्याद्धर्मे लोकान्तरेऽपि च' इति

विश्वः । 'निधिर्ना शेवधिः' इत्यमरः । 'हविर्होतव्यमात्रं च सर्पिष्यपि नपुंसकम्' इति मेदिनी ।

ता०—सन्ध्याकालीनकृत्यसमाप्तौ, अरुन्धत्योपसेवितं वशिष्ठं स्वाहादेव्योपसेवितमग्निमिव स दिलीपो ददर्श ।

इन्दुः—उस 'राजा दिलीप'ने सायङ्कालीन अनुष्ठानके समाप्त होने पर अरुंधती से सेवित तपोनिधि 'वशिष्ठ' को स्वाहादेवी से सेवित अग्नि की भाँति देखा ॥५६॥

ॐसुदक्षिणादिलीपयोः सपत्नीकस्य गुरोः पादाभिवन्दनमित्याह—

तयोर्जगृहतुः पादान्राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—तयोरिति । मागधी मगधराजपुत्री राज्ञी सुदक्षिणा राजा च तयोररुन्धतीवशिष्ठयोः पादाञ्जगृहतुः । 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । पादग्रहणमभिवादनम् । गुरुपत्नी गुरुश्च कर्तारौ, सा च स च तौ सुदक्षिणादिलीपौ कर्मभूतौ । प्रीत्या हर्षेण प्रतिननन्दतुः । आशीर्वादादिभिः संभावयाञ्चक्रतुरित्यर्थः ।

अ०—मागधी, राज्ञी, राजा, च, तयोःपादान्, जगृहतुः, गुरुपत्नी, गुरुः, च तौ, प्रीत्या, प्रतिननन्दतुः । वा०—मागध्या राज्ञ्या राज्ञा च तयोः पादा जगृहिरे, गुरुणा, गुरुपत्न्या च प्रीत्या तौ प्रतिननन्दाते ।

सुधा—मागधी = मगधराजसुता, राज्ञी=राजपत्नी, सुदक्षिणेत्यर्थः । राजा=नृपः, दिलीप इत्यर्थः । च = समुच्चयेऽर्थे, तयोः = अरुन्धतीवशिष्ठयोः, पादान्=चरणान् जगृहतुः=आददतुः, सपत्नीको राजा सपत्नीकं गुरुं नमस्कृतवानिति भावः । गुरुपत्नी = वसिष्ठभार्या, अरुन्धतीत्यर्थः । गुरुश्च = वशिष्ठोऽपि, 'कर्तृभूतौ' तौ=सुदक्षिणादिलीपौ 'कर्मभूतौ' प्रीत्या = हर्षेण, प्रतिननन्दतुः = अभिनन्दनं चक्रतुः, आशीर्वादादिभिरिति शेषः । सपत्नीको गुरुरपि सपत्नीकाय राज्ञे, आशीर्वादान् ददाविति भावः ।

स०—मगधानां राजा मागधस्तस्यापत्यं स्त्री मागधी ।

को०—'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः । 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदाः' इति चामरः ।

ता०—सुदक्षिणादिलीपौ सपत्नीकं गुरुं प्रणेमतुस्ततोऽरुन्धतीवशिष्ठावपि ताभ्यामाशिषो ददतुः ।

इन्दुः—मगध देश के राजा की लड़की रानी 'सुदक्षिणा' और राजा 'दिलीप उन दोनों 'अरुन्धती और वसिष्ठ' के चरणों को पकड़े 'प्रणाम किये' तथा गुरु 'वशिष्ठ' और गुरुपत्नी 'अरुन्धती' ने प्रेम से उन दोनों 'सुदक्षिणा और दिलीप' को आशीर्वाद दिया ॥ ५७ ॥

*वशिष्ठो दिलीपं राज्यविषयककुशलं पृष्टवानित्याह—

तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् ।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—तमिति । मुनिः अतिथ्यर्थमातिथ्यम् । 'अतिथेर्न्यः' इति न्यप्रत्ययः । आतिथ्यस्य क्रिया तया शान्तो रथक्षोभेण यः परिश्रमः स यस्य स तं तथोक्तम् । राज्यमेवाश्रमस्तत्र मुनिं मुनितुल्यमित्यर्थः । तं दिलीपं राज्ये कुशलं पप्रच्छ पृच्छ्तेस्तु द्विकर्मकत्वमित्युक्तम् । यद्यपि राज्यशब्दः पुरोहितादिष्वन्तर्गतत्वाद्राजकर्मवचनः । तथाऽप्यत्र 'सप्ताङ्गवचनः'। 'उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु' इत्युत्तरविरोधात् । तथाऽऽह मनुः 'स्वाम्यमात्यपुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ तथा सुहृत् । सप्तैतानि समस्तानि लोकेऽस्मिन्राज्यमुच्यते ॥' इति । तत्र 'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥' इति मनुवचने सत्यपि तस्य राज्ञो महानुभावत्वाद् ब्राह्मणोचितः कुशलप्रश्न एव कृत इत्यनुसंधेयम् । अत एवोक्तं-'राज्याश्रममुनिम्' इति ।

अ०—मुनिः, आतिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमं, राज्याश्रममुनिं, तं राज्ये, कुशलम् पप्रच्छ ।

वा०—मुनिनाऽऽतिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमो राज्याश्रममुनी राज्ये कुशलं पप्रच्छे ।

सुधा—मुनिः=वाचंयमः, वशिष्ठ इत्यर्थः । आतिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमं= गृहागतसत्कारव्यापारविगतस्यन्दनसञ्चलनखेदं, राज्याश्रममुनिं = राज्यरूपाश्रमे मुनितुल्यं, तं = दिलीपं, राज्ये=राज्यविषये, स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलात्मक-इत्यर्थः । कुशलं = क्षेमम्, पप्रच्छ = पृष्टवान् ।

स०—अतति निरन्तरं, गच्छतीत्यतिथिः, अविद्यमाना तिथिर्यस्यागमने सोऽतिथिः अतिथ्यर्थमातिथ्यम् तस्य क्रिया, आतिथ्यक्रिया तया शान्तः, आतिथ्यक्रियाशान्तः, रमन्तेऽस्मिन्निति रथः तस्य क्षोभो रथक्षोभः तेन परिश्रमो रथक्षोभपरिश्रमः आतिथ्यक्रियाशान्तो रथक्षोभपरिश्रमो यस्य स आतिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमस्तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम्, राज्ञः कर्म भावो वा राज्यम्, राज्यमेवाश्रमो राज्याश्रमः तस्मिन् मुनी राज्याश्रममुनिस्तं राज्याश्रममुनिम् ।

को०—'क्रिया, कर्मणि चेष्टायां करणे सम्प्रधारणे । आरम्भोपायशिक्षाऽर्थचिकित्सानिष्कृतिष्वपि' इति विश्वः । 'याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गः स्यन्दनो रथः' इति । 'वाचंयमो मुनिः' इति चामरः ॥

ता०—वशिष्ठानुज्ञया मुनिकृतातिथिसत्कारव्यापारेणापनीतमार्गश्रमं दिलीपं मुनिर्वशिष्ठो राज्ये स्वाम्यमात्यपुरराष्ट्रकोशबलसुहृदात्मके कुशलं पृष्टवान् ॥

इन्दुः—मुनि 'वशिष्ठ' ने अतिथिसत्कार के द्वारा रथ के हिलने से उत्पन्न हुई

थकावट जिसकी दूर हो गयी है, ऐसे राज्यरूपी आश्रम के विषयमें मुनितुल्य उन 'राजा दिलीप' से राज्य 'स्वामी–मन्त्री–नगर–देश–खजाना–सेना–मित्र–' विषयक कुशल पूछा ॥ ५८ ॥

ॐवशिष्ठस्य कुशलप्रश्नानन्तरं दिलीपस्योत्तरदानोपक्रमः—

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—अथेति। अथ प्रश्नानन्तरं विजितारिपुरो विजितशत्रुनगरो वदतां वक्तॄणां वरः श्रेष्ठः 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी। अर्थपती राजाऽथर्वणोऽथर्ववेदस्य निधेस्तस्य मुनेः पुरोऽग्रेऽर्थ्यामर्थादनपेताम्। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः। वाचमाददे। वक्तुमुपक्रान्तवानित्यर्थः। अथर्वनिधेरित्यनेन पुरोहित कृत्याभिज्ञत्वात्तत्कर्मनिर्वाहकत्वं मुनेरस्तीति सूच्यते। यथाऽऽह कामन्दकः–'त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात्पुरोहितः। अथर्वविहितं कुर्यान्नित्यं शान्तिकपौष्टिकम् ॥' इति ॥

अ०—अथ, विजितारिपुरः, वदतां वरः, अर्थपतिः, अथर्वनिधेः तस्य, पुरः, अर्थ्याम्, वाचम्, आददे ॥ वा०—अथ विजितारिपुरेण वदतां वरेणार्थपतिनाऽथर्वनिधेस्तस्य पुरोऽर्थ्या वागाददे ॥

सुधा—अथ = वशिष्ठस्य कुशलप्रश्नानन्तरं, विजितारिपुरः = कृतस्वाधीनारिनगरः, वदतां = जल्पताम् 'मध्ये' वरः, = श्रेष्ठः, अर्थपतिः = विभवेश्वरः, राजा दिलीप इति भावः। अथर्वनिधेः=अथर्ववेदशेवधेः, अथर्ववेदविदुष इति यावत्। तस्य=वशिष्ठमहर्षेः, पुरः = अग्रतः, अर्थ्याम् = अर्थोपेतां, वाचं = गिरम्, आददे = जगृहे, वक्तुमारम्भं कृतवानित्यर्थः ॥

स०—नि निश्चयेन धीयतेऽस्मिन्निति निधिः, अथर्वणो निधिरथर्वनिधिः, तस्याथर्वनिधेः। अरीणां पुराण्यरिपुराणि विजितान्यरिपुराणि येन स विजितारिपुरः।

को०—'निधिर्ना शेवधिः' इति। 'अगारे नगरे पुरम्' इति चामरः। 'स्यात्पुरः पुरतोऽग्रतः' इति। 'आत्मवाननपेतोऽर्थादर्थ्यौ' इति चामरः। 'अर्थ्यं शिलाजतुन्यर्थ्यो बुधे न्याय्ये च वाच्यवद्' इति मेदिनी।

ता०—मुनेर्वशिष्ठस्य कुशलप्रश्नमाकर्ण्य दिलीपस्तं स्वाभिलषितपुत्रप्राप्त्युपायाभिज्ञं विज्ञाय प्रयोजनयुतां वाणीं वक्तुमारब्धवान् ॥

इन्दुः—'गुरु वशिष्ठ के कुशल प्रश्न पूछ चुकने के' बाद, वैरियों के नगरों के जीतने वाले, बोलने वालों में श्रेष्ठ, विभव के पति 'राजा दिलीप' ने, अथर्ववेद के खजाना 'अथर्ववेद के विद्वान्' उन 'वशिष्ठ ऋषि' के आगे प्रयोजन से युक्त बात चलायी ॥ ५९ ॥

ॐयस्य त्वं गुरुरसि तस्य राज्ये सर्वं कुशलमस्त्येवेत्याह—

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।

दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ ६० ॥

सञ्जी०—उपपन्नमिति । हे गुरो ? सप्तस्वङ्गेषु स्वाम्यमात्यादिषु । 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । सप्ताङ्गानि' इत्यमरः । शिवं कुशलमुपपन्नं ननु युक्तमेव । नन्ववधारणे । 'प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । कथमित्यत्राह—यस्य मे दैवीनां देवेभ्य आगतानां दुर्भिक्षादीनाम् मानुषीणां मनुष्येभ्य आगतानां चौरभयादीनाम् । उभयत्रापि 'तत आगतः' इत्यण् । 'टिड्ढाणञ्०' इत्यादिना ङीप्-आपदां व्यसनानां त्वं प्रतिहर्ता वारयिताऽसि । अत्राह कामन्दकः-'हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा । इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनं ततः ॥ आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् । पृथिवीपतिलोभाच्च नराणां पञ्चधा मतम् ॥' इति ।

अ०—'हे गुरो !' सप्तसु, अङ्गेषु, मे शिवम्, उपपन्नं, ननु यस्य, मे दैवीनाम्, मानुषीणाम्, आपदां, त्वम्, प्रतिहर्त्ता, 'असि'। वा०—मे सप्तस्वङ्गेषु शिवमुपपन्नं ननु यस्य दैवीनाम् मानुषीणामापदाम् त्वया प्रतिहर्त्रा भूयते ॥

सुधा—'हे गुरो !' सप्तसु=स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलेतिसप्तसङ्ख्याकेषु, अंगेषु=राज्याङ्गेषु, मे=मम, शिवं कल्याणम्, उपपन्नं=युक्तम्, अस्त्येवेति शेषः । ननु=इत्यवधारणे,'यस्य=भवदीयशिष्यस्य, मे=मम 'दिलीपस्य' इत्यर्थः । दैवीनां=देवेभ्य आगतानां, दुर्भिक्षादीनामिति यावद् । मानुषीणाम्=मनुष्येभ्य आगतानां, चौरभयादीनामिति यावद् । आपदां=विपत्तीनां, त्वम्=भवान् 'एव' इति शेषः । प्रतिहर्त्ता=निवारणकर्त्ता, असीति शेषः ॥

स०—मनुष्येभ्य आगता मानुष्यः तासां मानुषीणाम् ।

को०—'श्वःश्रेयसं शिवम्भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः । 'विपत्त्यां विपदापदौ' इत्यमरः ।

ता०—मम राज्ये स्वाम्यमात्यादिषु सप्तस्वंगेषु कुतो न कुशलं स्यात् ? यस्य मे दैवीमानुषीप्रभृतिविपत्तिनिवारणाय प्रभुस्त्वम् मद्गुरुर्विद्यमानोऽस्यतः सर्वत्र कुशलमेव ।

इन्दुः—'हे गुरो' ! मेरे 'राज्य के' सात अङ्गों 'स्वामी, मन्त्री, मित्र, खजाना, राष्ट्र (पुर), किला, सेना', में कुशल क्यों न हो जिस के दैवी 'अग्नि, जल, रोग, दुर्भिक्ष, मरण' इन पाँच' और मानुषी 'ठग, चौर, शत्रु, राजा का कृपापात्र, राजा का लोभ' इन पाँच आपत्तियों के नाश करने वाले आप 'स्वयं विद्यमान' हैं ॥ ६० ॥

*तत्र मानुषापत्प्रतीकारमाह—

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—तवेति । दूरात्परोक्ष एव प्रशमितारिभिः । मन्त्रान् कृतवान्मन्त्रकृत् । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति क्विप् । तस्य मन्त्रकृतो मन्त्राणां स्रष्टुः प्रयोक्तुर्वा

तव मन्त्रैः कर्तृभिः । दृष्टं प्रत्यक्षं यल्लक्ष्यं तन्मात्रं भिन्दन्तीति दृष्टलक्ष्यभिदो मे शराः प्रत्यादिश्यन्त इव । वयमेव समर्थाः किमेभिः पिष्टपेषकैरिति निराक्रियन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः । त्वन्मन्त्रसामर्थ्यादेव न पौरुषं फलतीति भावः ।

अ०—दूरात्, प्रशमितारिभिः, मन्त्रकृतः, तव मन्त्रैः दृष्टलक्ष्यभिदः, मे, शराः, प्रत्यादिश्यन्ते, इव ॥ वा०—दूरात् प्रशमितारयो मन्त्रकृतस्तव मन्त्रा दृष्टलक्ष्यभिदो मे शरान् प्रत्यादिशन्तीव ॥

सुधा—दूरात्=परोक्ष एव प्रशमितारिभिः=शान्तरिपुभिः, मन्त्रकृतः=मन्त्रप्रयोक्तुः, तव=भवतः वशिष्ठस्येत्यर्थः । मन्त्रैः=वेदमन्त्रैः 'कर्तृभिः' दृष्टलक्ष्यभिदः=दृष्टिगोचरलक्षभेदनकर्त्तारः, मे=मम, शराः=बाणाः, प्रत्यादिश्यन्त इव=निराक्रियन्त इव । मानुषीणामापदां विनाशस्तु त्वन्मन्त्रबलसामर्थ्यान्मद्बाणैरेव भवति ।

स०—प्रकर्षेण शमिता अरयो यैस्ते प्रशमितारयस्तैः प्रशमितारिभिः । दृष्टञ्च तल्लक्ष्यं दृष्टलक्ष्यं दृष्टलक्ष्यं भिन्दन्तीति दृष्टलक्ष्यभिदः ॥

को०—'दूरं विप्रकृष्टकम्' इत्यमरः । 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इति च । 'लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च' इति । 'पृषत्कबाणविशिखा अजिह्मगखगाशुगाः । कलम्बमार्गणशराः पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इति चामरः ॥

ता०—परोक्ष एव वैरिणो विनाशयन्ति, त्वत्प्रयुक्ता मन्त्रा अतस्तदपेक्षया प्रत्यक्षलक्ष्यभेदिनो मे बाणा व्यर्था एव, अर्थाद्–दूरादेव वैरिविनाशिनां त्वत्प्रयुक्तमन्त्राणां सामर्थ्यादेव मद्बाणाः प्रत्यक्षलक्ष्यं भिन्दन्ति, अतस्तदपेक्षया व्यर्थाः पिष्टपेषका इव । सर्वं तव मन्त्रबलादेव सिद्ध्यति न तु मद्बाहुबलादिति भावः ॥

इन्दुः–मन्त्र के प्रयोग करने वाले आप के जो दूर ही से (परोक्ष ही से) वैरियोंके नाश करनेवाले मन्त्र हैं, वे प्रत्यक्ष ही में वेधनेवाले मेरे बाणोंको व्यर्थसे करते हैं ॥

सम्प्रति दैविकापत्प्रतीकारमाह—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—हविरिति । हे होतः ! त्वया विधिवदग्निष्वावर्जितं प्रक्षिप्तं हविराज्यादिकं कर्तृ । अवग्रहो वर्षप्रतिबन्धः । 'अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे' इत्यप् प्रत्ययः । 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समौ' इत्यमरः । तेन विशोषिणां विशुष्यतां सस्यानां वृष्टिर्भवति वृष्टिरूपेण सस्यान्युपजीवयतीति भावः । अत्र मनुः–'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।' इति ।

अ०—'हे होतः ! त्वया, विधिवद्, अग्निषु आवर्जितं हविः, अवग्रहविशोषिणां सस्यानां, वृष्टिः, भवति । वा०—होतस्त्वया विधिवदग्निष्वावर्जितेन हविषाऽवग्रहविशोषिणां सस्यानां वृष्टया भूयते ॥

सुधा—हे होतः ! हवनकर्तः !, त्वया=भवता, विधिवद्=यथाविधि, अग्निषु=वह्निषु, आवर्जितं=हुतं, हविः=सर्पिःप्रभृतिहवनद्रव्यं, (कर्तृ) अवग्रहविशोषिणां=वृष्टिविघातेन शोषणशीलानां, सस्यानां=धान्यानां 'वृक्षादीनाम् फलानाम्' । वृष्टिः=वर्षणम्, भवति=जायते, वृष्टिरूपेण सस्यानि समुत्पादयन्तीति भावः ॥

स०—अवग्रहणमवग्रहः तेन विशेषेण शोष्टुं शीलमेषान्तेऽवग्रहविशोषिणस्तेषामवग्रहविशोषिणाम् ॥

को०—'हविः सर्पिषि होतव्ये' इति हैमः । 'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इति । 'वृक्षादीनां फलं सस्यम्' इति चामरः ।

ता०—हे यज्ञकर्त्तः ! त्वमाज्यादिकं यदग्नौ मत्कल्याणार्थं जुहोषि, तदेव वृष्टिर्भूत्वा सस्यानामुपजीवकम् भवति—अतोऽस्मद्राज्ये कुतो दैवीनाम् मानुषीणाञ्चापदां सम्भवः स्यात् ।

इन्दुः—हे हवन करनेवाले ! 'गुरो !' आपसे विधिपूर्वक अग्नि में दी हुई आहुति अकाल से सूखते हुए धानों 'वृक्षादिकों के फलों' के सम्बन्ध में वृष्टि रूप होती है।

ॐस्वप्रजानां सर्वतोभावेन सुखित्वे त्वद्ब्रह्मवर्चसं हेतुरित्याह—

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः ।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ ६३ ॥

सञ्जी—पुरुषायुषेति । आयुर्जीवितकालः । पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम् । वर्षशतमित्यर्थः । 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतेः । 'अचतुरविचतुरसुचतुर०' इत्यादिसूत्रेणाच्प्रत्ययान्तो निपाताः । मदीयाः प्रजाः पुरुषायुषं जीवन्तीति पुरुषायुषजीविन्यः । निरातङ्का निर्भयाः । 'आतङ्को भयमाशङ्का' इति हलायुधः । निरीतयोऽतिवृष्ट्यादिरहिता इति यत्तस्य सर्वस्य त्वद्ब्रह्मवर्चसं तव व्रताध्ययनसंपत्तिरेव हेतुः । 'व्रताध्ययनसंपत्तिरित्येतद् ब्रह्मवर्चसम्' इति हलायुधः । ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम् । 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' इत्यच्प्रत्ययः । 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः शुकाः । अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः' इति कामन्दकः ।

अ०—मदीयाः, प्रजाः, पुरुषायुषजीविन्यः, निरातङ्काः, निरीतयः, 'सन्तीति' यत्, तस्य, त्वद्ब्रह्मवर्चसम् एव, हेतुः । वा०—मदीयाभिः प्रजाभिः पुरुषायुषजीविनीभिर्निरातङ्काभिर्निरीतिभिः 'भूयत इति' तस्य त्वद्ब्रह्मवर्चसेनैव हेतुना 'भूयते' ।

सुधा—मदीयाः=मत्सम्बन्धिन्यः, प्रजाः=जनाः, पुरुषायुषजीविन्यः=वर्षशतजीवनशीलाः, 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतेः । निरातङ्काः=निर्भयाः, निरीतयः=अतिवृष्ट्यादि षड्बाधारहिताः, 'सन्तीति' शेषः । यत्, तस्य=सर्वस्य, त्वद्ब्रह्मवर्चसम्=भवद्व्रताध्ययनसम्पत्तिः, एव=निश्चयेन, हेतुः=कारणं, 'वर्तते' इति शेषः ।

स०—पुरुषस्यायुः, पुरुषायुषं पुरुषायुषं जीवितुं शीलं यासान्ताः पुरुषायुषजीविन्यः ।

को०—'आयुर्जीवितकालः' इत्यमरः । 'रुक्तापशङ्कास्वातङ्क' इति । 'ईतिर्डिम्ब-

प्रवासयोः' इत्यमरः । डिम्बो विप्लवः स च सप्तविधस्तद्यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः शुकाः । स्वचक्रं परचक्रञ्च सप्तैता ईतयः स्मृताः' इति चामरः ।

ता०—मदीयाः प्रजास्त्वदनुष्ठितव्रतवेदवेदाङ्गाध्ययनसम्पत्त्यैव दीर्घजीविन्यो निर्भयाः सप्तविधोपद्रवेणातिवृष्ट्यादिकेन रहिताः सन्ति नान्येन हेतुना ।

इन्दुः—जो मेरी प्रजायें, पुरुष की आयु 'सौ वर्ष' तक जीने वाली, निर्भय, और ईति, अतिवर्षा, सूखा, चूहा, टिड्डी, सुग्गा, 'विपत्ती' राजाओं की चढ़ाई से बची हुई हैं सो इन सबों का कारण आपका ब्रह्मतेज 'सदाचार-वेदवेदाङ्गाध्ययन से उत्पन्न पुण्य' ही है ॥ ६३ ॥

⊛भवादृशेन मद्गुरुणा सर्वं मे सुखं भवतीत्याह—

त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना ।
सानुबन्धाः कथं न स्यु संपदो मे निरापदः ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—त्वयैवमिति । ब्रह्मा योनिः कारणं यस्य तेन ब्रह्मपुत्रेण गुरुणा त्वयैवमुक्तप्रकारेण चिन्त्यमानस्यानुध्यायमानस्य । अत एव निरापदो व्यसनहीनस्य मे सम्पदः सानुबन्धाः सानुस्यूतयोऽविच्छिन्ना इति यावत् । कथं न स्युः । स्युरेवेत्यर्थः ।

अ०—ब्रह्मयोनिना, गुरुणा, त्वया, एवं, चिन्त्यमानस्य, 'अत एव' निरापदः, मे सम्पदः, सानुबन्धाः, कथं, न, स्युः । वा०—ब्रह्मयोनिना त्वया गुरुणैवं चिन्त्यमानस्य निरापदो मे सानुबन्धाभिः कथं न भूयते ।

सुधा—ब्रह्मयोनिना = परमेष्ठिपुत्रेण, वशिष्ठेनेत्यर्थः । गुरुणा=पूज्येन, आचार्येणेत्यर्थः । त्वया = भवता, एवम् = उक्तप्रकारेण, चिन्त्यमानस्य = स्मर्यमाणस्य, निरापदः = विपद्रहितस्य, मे = मम, सम्पदः=सम्पत्तयः, सानुबन्धाः = अविच्छिन्नाः, कथं = केन प्रकारेण, न = नहि, स्युः = भवेयुः, अपि तु स्युरेवेति भावः ।

स०—ब्रह्मा योनिः कारणं यस्य स तेन ब्रह्मयोनिना ।

को०—'अनुबन्धस्तु वन्धे स्याद्दोषोत्पादे विनश्वरे । मुख्यानुयायिवाले च प्रकृतस्यानुवर्त्तने' इति मेदिनी ।'सम्पद् भूतौ गुणोत्कर्षे हारभेदेऽपि च स्त्रियाम्' इति । 'सम्पदि, सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इति मेदिन्यमरश्च ।

ता०—ब्रह्मपुत्रेण भवता गुरुणा स्मर्यमाणस्य मे कुतो दुःखं स्यात् ? कुतश्च न स्थिरा सम्पत्तिः स्यात् अपि तु केवलं सम्पत्तिरेव स्यात् ।

इन्दुः—'जब' ब्रह्मपुत्र आप 'मेरे' गुरु हैं और 'सर्वदा' उक्त प्रकार से 'मेरे कल्याण की' चिन्ता किया करते हैं । 'तो फिर' आपत्ति से रहित मेरी सम्पत्ति 'निरन्तर' अविच्छिन्न 'स्थिर' क्यों न रहे ॥ ६४ ॥

संप्रत्यागमनप्रयोजनमाह—

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् ।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥ ६५ ॥

सञ्जी०—किन्त्विति । किन्तु तवैतस्यां वध्वां स्नुषायाम् । 'वधूर्जाया स्नुषा चैव' इत्यमरः । अदृष्टा सदृश्यनुरूपा प्रजा येन तं मां सद्वीपाऽपि । रत्नानि सूयत इति रत्नसूरपि । 'सत्सूद्विष०' इत्यादिना क्विप् । मेदिनी नावति न प्रीणाति । अव-धातू रक्षणगतिप्रीत्याद्यर्थेषूपदेशादत्र प्रीणने । रत्नसूरपीत्यनेन सर्वरत्नेभ्यः पुत्ररत्नमेव श्लाघ्यमिति सूचितम् ।

अ०—किन्तु, तव, एतस्यां, वध्वाम्, अदृष्टसदृशप्रजम्, मां, सद्वीपा, रत्नसूः, अपि, मेदिनी, न अवति । वा०—किन्तु तवतस्यां वध्वामदृष्टसदृशप्रजोऽहं सद्वीपया रत्नसुवाऽपि मेदिन्या न अव्ये ।

सुधा—किन्तु, तव = भवतः, एतस्याम् = अस्याम्, 'पुरोवर्तिन्याम्' इत्यर्थः । वध्वां = स्नुषायां सुदक्षिणायामिति यावद् । अदृष्टसदृशप्रजम्—अनवलोकितानुरूप-सन्ततिम्, मां = दिलीपं, सद्वीपा = ससद्वीपसहिता, रत्नसूः = हीरकादिमहामणि-प्रसविनी, अपि मेदिनी = मही, न = नहि, अवति = प्रीणाति । पुत्ररत्नाभावतो रत्न-सूरियं वसुधा मां न प्रीणातीति भावः ।

स०—प्रकर्षेण जायत इति प्रजा, न दृष्टेत्यदृष्टा, अदृष्टा सदृशी प्रजा येन सोऽदृष्ट-सदृशप्रजः तमदृष्टसदृशप्रजम् । रमयन्तीति रत्नानि तानि सूयत इति रत्नसूः ।

को०—'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्माऽवनिर्मेदिनी मही' इत्यमरः ।

ता०—यद्यपि मच्छासनाधीनानां मह्यां महारत्नानि समुत्पद्यन्ते, परन्तु सुद-क्षिणायां सर्वरत्नेषु श्रेष्ठस्य पुत्ररत्नस्याभावात् तानि महारत्नानि सन्तोषाय न प्रभवन्तीति ।

इन्दुः—परन्तु आपकी इस शिष्य-वधू में अपने सदृश सन्तान होती हुई न देखने-वाले मुझको द्वीपों के सहित रत्नों को पैदा करनेवाली पृथ्वी भी नहीं भाती ॥६५॥

तदेव प्रतिपादयति—

*पुत्राभावेन पितॄणां दुःखेन पिण्डग्रहणं भविष्यतीत्याह—

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥ ६६ ॥

सञ्जी०—नूनमिति । मत्तः परं मदनन्तरम् 'पञ्चम्यास्तसिल्' पिण्डविच्छेद-दर्शिनः पिण्डदानविच्छेदमुत्प्रेक्षमाणाः । वंशोद्भवा वंश्याः पितरः । स्वधेत्यव्ययं पितृ-भोज्ये वर्तते । तस्याः संग्रहे तत्परा आसक्ताः सन्तः श्राद्धे पितृकर्मणि । 'पितृदानं निवापः स्याच्छ्राद्धं तत्कर्म शास्त्रतः' इत्यमरः । प्रकामभुजः पर्याप्तभोजिनो न भवन्ति नूनं सत्यम् । 'कामं प्रकामं पर्याप्तम्' इत्यमरः । निर्धना ह्यापद्धनं कियदपि संगृह्णतीति भावः ।

अ०—मत्तः परम् पिण्डविच्छेददर्शिनः, वंश्याः, स्वधासंग्रहतत्पराः, 'सन्तः' श्राद्धे, प्रकामभुजः, नूनं, न, भवन्ति ॥ वा०—मत्तः परं पिण्डविच्छेददर्शिभिः स्वधासङ्ग्रहतत्परैर्वंश्यैः श्राद्धे प्रकामभुग्भिर्न भूयते ॥

सुधा—मत्तः = मत्, परम् = अनन्तरम्, पिण्डविच्छेददर्शिनः=पिण्डदानविश्लेषदर्शनशीलाः, वंश्याः = वंशोद्भवाः, पितरः इति यावत्। स्वधासङ्ग्रहतत्पराः = पितृभोज्यसंग्रहणासक्ताः, 'सन्तः' इति शेषः। श्राद्धे = पितृकर्मणि, प्रकामभुजः = पर्याप्तभोजिनः, नूनं = निश्चितं न = नहि, 'भवन्ति' इति शेषः।

स०—पिण्डस्य विच्छेदः पिण्डविच्छेदः तं द्रष्टुं शीलं येषान्ते पिण्डविच्छेददर्शिनः। स्वधायाः संग्रहः स्वधासंग्रहः तत्र तत्पराः स्वधासंग्रहतत्पराः॥

को०—'पिण्डो बोले बले सान्द्रे देहागारैकदेशयोः। देहमात्रे निवापे च गोलसिह्लकयोरपि' इति मेदिनी। 'संग्रहो बृहत्युत्तुङ्गे ग्रहसंक्षेपयोरपि' इति मेदिनी।

ता०—पुत्ररहितं मामवलोक्यातः परं न पिण्डप्राप्तिसम्भव इति विचारयन्तो मत्पितरः सम्यक्तरेण तृप्तिक्षमं श्राद्धे पिण्डं भोक्तुं नोत्सहन्ते।

इन्दुः—मेरे बाद पिण्ड का लोप देखने वाले, स्वधा इकट्ठी करने में लगे हुए मेरे पूर्वज श्राद्ध में इच्छापूर्वक भोजन करने के लिए निश्चय उत्साह नहीं कर रहे हैं॥ ६६॥

*पुत्राभावेन पितॄणां दुःखेन जलग्रहणं भविष्यतीत्याह—

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते॥ ६७॥

सञ्जी०—मत्परमिति। मत्परं मदनन्तरम्, 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इत्यनेन पञ्चमी। दुर्लभं दुर्लभ्यं मत्वा मयाऽऽवर्जितं मद्दत्तं पयः पूर्वैः पितृभिः स्वनिःश्वासैर्दुःखजैः कवोष्णमीषदुष्णं यथा तथोपभुज्यते। नूनमिति वितर्के। कवोष्णमिति कुशब्दस्य कवादेशः 'कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णं कदुष्णं त्रिषु तद्वति' इत्यमरः।

अ०—मत्परं, दुर्लभम्, मत्वा, इदानीम्, मया आवर्जितम्, पयः, पूर्वैः, स्वनिःश्वासैः, कवोष्णं, 'यथा स्यात्तथा' उपभुज्यते, नूनम्॥ वा०—मत्परं दुर्लभं मत्वा मयाऽऽवर्जितम् पयः पूर्वे 'पितरः' स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुञ्जते नूनम्।

सुधा—मत्परम् = मदनन्तरं, दुर्लभं = दुरापम्, मत्वा = ज्ञात्वा, 'इदानीम्' मया = दिलीपेन, आवर्जितं = दत्तम्, पयः=वारि, पूर्वैः=प्राचीनैः 'पितृभिः' इत्यर्थः। स्वनिःश्वासैः = आत्ममुखवायुभिः 'दुःखजैः' इति शेषः। 'कारणभूतैः'। कवोष्णम् = ईषदुष्णं, 'यथा स्यात्तथा' उपभुज्यते = पीयते, नूनम् = इति वितर्के॥

स०—निःश्वसनानि निःश्वासाः स्वस्य निःश्वासाः स्वनिःश्वासास्तैः स्वनिःश्वासैः।

को०—'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इति चामरः।

ता०—मदनन्तरं जलदातुः पुत्रस्याभावं पश्यन्तोऽत एव दुःखजन्यैर्निजनिःश्वासैः कोष्णीभूतमिदानीं मद्दत्तं पयो मत्पितरः पिबन्ति॥

इन्दुः—मेरे बाद 'जल को' दुर्लभ समझकर 'इस समय' मुझसे दिए हुए

जल को 'मेरे' पूर्वज 'पितृगण' अपने 'दुःखजन्य' निःश्वासों से थोड़ा गरम 'जैसे हो वैसे' पीते हैं। 'ऐसा मैं' अनुमान 'करता हूँ' ॥ ६७ ॥

*पितॄणामुद्धृतौ दिलीपस्य दुःखप्रकाशनमित्याह—

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—स इति । इज्या यागः 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' इति 'क्यप्प्रत्ययः । तथा विशुद्धात्मा विशुद्धचेतनः प्रजालोपेन सन्तत्यभावेन निमीलितः कृतनिमीलनः सोऽहम् । लोक्यत इति लोकः । न लोक्यत इत्यलोकः, लोकश्चालोकश्चात्र स्त इति, लोकश्चासावलोकश्चेति वा, लोकालोकश्चक्रवालोऽचल इव । 'लोकालोकश्चक्रवालः' इत्यमरः । प्रकाशत इति प्रकाशश्च देवर्णविमोचनाद् । न प्रकाशत इत्यप्रकाशश्च पितृणाविमोचनात् । पचाद्यच् । अस्मीति शेषः । लोकालोकोऽप्यन्तःसूर्यसंपर्काद्बहिस्तमोव्याप्त्या च प्रकाशश्चाप्रकाशश्चेति मन्तव्यम् ॥

अ०—इज्याविशुद्धात्मा, प्रजालोपनिमीलितः, अहं, लोकालोकः, अचलः, इव, प्रकाशः, च, अप्रकाशः, च,'अस्मि' ॥ वा०—इज्याविशुद्धात्मना प्रजालोपनिमीलितेन तेन मया लोकालोकेनाचलेनेव प्रकाशेन चाप्रकाशेन च भूयते ॥

सुधा—इज्याविशुद्धात्मा=यज्ञपवित्रान्तःकरणः, प्रजालोपनिमीलितः=सन्तत्यदर्शनकृतनयनपक्ष्मसङ्कोचः, सः=एवम्भूतः, अहं=दिलीपः, लोकालोकः=चक्रवालः, 'सप्तद्वीपवत्या भूमेः प्राकारभूतो गिरिरित्यर्थः' । अचलः=शैलः, इव=यथा, प्रकाशश्च=देवर्णविमोचनाद् द्योतश्च, दीप्त इत्यर्थः । पर्वतपक्षे—द्योत आतप इत्यर्थः अप्रकाशश्च=पितृणाविमोचनाद्दीप्तश्च, म्लान इत्यर्थः, पर्वतपक्षेऽन्धकार इत्यर्थः । अस्मीति शेषः ॥

स०—अततीत्यात्मा, यजनमिज्या तया विशुद्धः इज्याविशुद्धः इज्याविशुद्ध आत्मा यस्य स इज्याविशुद्धात्मा । प्रकर्षेण जायत इति प्रजा तस्या लोपः प्रजालोपः तेन निमीलितः प्रजालोपनिमीलितः ।

को०—'इज्या दानेऽध्वरेऽर्चायां सङ्गमे स्त्री गुरौ त्रिषु' इति मेदिनी । 'प्रकाशो द्योत आतपः' इति चामरः । 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इति चामरः ॥

ता०—अहं दिलीपो यज्ञकरणेन देवर्णविमोचनात् प्रसन्नो विकसितनेत्रोऽस्मि, किन्तु सन्ततेरभावादत एव पितृणाविमोचनादप्रसन्नोऽत एव निमीलितनयनश्चास्मीत्यतो लोकालोकाचलस्येव मे स्थितिः सम्प्रत्यस्ति ।

इन्दुः—यज्ञ करने के कारण शुद्ध चित्तवाला तथा पुत्रके न दिखाई पड़ने (न होने) से आँख मूँदे हुये 'अन्धा' जैसा मैं 'दिलीप' लोकालोक पर्वतकी भाँति प्रकाशवान् 'दीप्तिमान्' और अप्रकाशवान् 'मलिन' हो रहा हूँ ॥ ६८ ॥

ननु तपोदानादिसम्पन्नस्य किमपत्यैरित्यत्राह—

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ ६९ ॥

सञ्जी०—लोकान्तरेति । समुद्भवत्यस्मादिति 'समुद्भवः कारणम् । तपोदाने समुद्भवो यस्य तत्तपोदानसमुद्भवं यत्पुण्यं तल्लोकान्तरे परलोके सुखं सुखकरम् । शुद्धवंशे भवा शुद्धवंश्या सन्ततिर्हि परत्र परलोके, इह च लोके शर्मणे सुखाय । 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः । भवतीति शेषः ॥

अ०—तपोदानसमुद्भवं 'यत्' पुण्यं 'तत्' लोकान्तरसुखं, शुद्धवंश्या, 'सन्ततिः हि, इह, परत्र, च शर्मणे, 'भवति' ॥ वा०—तपोदानसमुद्भवेन 'येन' पुण्येन 'तेन' लोकान्तरसुखेन 'भूयते' शुद्धवंश्यया सन्तत्या हि इह परत्र च 'शर्मणे भूयते' ।

सुधा—तपोदानसमुद्भवं = कृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रतदानकारणकं, 'यत्' पुण्यं = सुकृतं, 'तद्' लोकान्तरसुखम् = परलोकसुखकारकम्, 'अस्ति' इति शेषः । शुद्धवंश्या = पवित्रवंशोद्भवा, सन्ततिः = प्रजा, पुत्र इति यावद् । हि = यतः, इह = अस्मिन् लोक इति यावत् । परत्र=परस्मिन् , परलोक इत्यर्थः । च, शर्मणे = सुखाय 'भवति' इति शेषः ।

स०—लोक्यतेऽस्मिन्निति लोकः सुखयतीति सुखम्, अन्यो लोको लोकान्तरम् तत्र सुखं लोकान्तरसुखम् । समुद्भवत्यस्मादिति समुद्भवः कारणं तपश्च दानञ्चेति तपोदाने, तपोदाने समुद्भवो यस्य तत् तपोदानसमुद्भवम् ।

ता०—पुण्यं केवलं परलोके सुखावहम्, परन्तु सन्ततिस्तूभयलोकमध्ये सुखकरी, अतः पुण्यापेक्षया सन्ततेरेवाधिकसुखास्पदत्वम् ॥

इन्दुः—तप और दान है कारण जिसका ऐसा जो पुण्य वह परलोक में सुख देने वाला होता है । परन्तु पवित्र वंश में उत्पन्न हुई सन्तति इस लोक और परलोक दोनों ही में सुख के लिये होती है ॥ ६९ ॥

ॐसमर्थोऽपि कथमनपत्यं मां ज्ञात्वा भवान्न दूयत इत्याह—

तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे ।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥ ७० ॥

सञ्जी०—तयेति । 'हे' विधातः ! स्रष्टः !, तया संतत्या हीनमनपत्यं माम् । स्नेहात्प्रेम्णा स्वयमेव सिक्तं जलसेकेन वर्धितं वन्ध्यमफलम् 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्यमरः आश्रमस्य वृक्षकं वृक्षपोतमिव । पश्यन्कथं न दूयसे न परितप्यसे । विधातरित्यनेन समर्थोऽप्युपेक्षस इति गम्यते ॥

अ०—'हे' विधातः !, तया, हीनम्, मां, स्नेहात्, स्वयम्, एव, सिक्तम्, वन्ध्यम्, आश्रमवृक्षकम्, इव पश्यन् कथं, न, दूयसे ॥ वा०—हे विधातः ! तया

हीनं मां स्नेहात् स्वयमेव सिक्तमाश्रमवृक्षकमिव पश्यता 'त्वया' कथं न दूयते ॥

सुधा—'हे' विधातः ! = हे स्रष्टः ! प्रजापते ! इति भावः । तया = सन्तत्या, हीनं = रहितम्, अपुत्रमिति भावः । मां=दिलीपं, स्नेहात्=प्रेम्णा, स्वयम्=आत्मना, एव = निश्चयेन, सिक्तं= जलदानेन संवर्धितम्, वन्ध्यम् = फलरहितम्, आश्रमवृक्षकम् = मठह्रस्वपादपम्, इव = यथा, पश्यन् = विलोकयन्, कथं = केन प्रकारेण, न = नहि, दूयसे = परितप्यसे ॥

स०—आश्रमस्य वृक्षकः आश्रमवृक्षकः तमाश्रमवृक्षकम् ॥

कोशः—'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड् विधिः' इत्यमरः । 'आश्रमो ब्रह्मचर्यादौ वानप्रस्थे मठे वने' इति मेदिनी ।

ता०—यथाऽऽत्मना जलदानेन संवर्धितमपि फलरहितमाश्रमवृक्षशिशुं विलोक्य भवान् दुःखी भवति तथैव पुत्ररहितं मां दृष्ट्वा कथं न परितापो भवतां हृदि भवति ॥

इन्दुः—हे विधातः ! सन्तान से हीन मुझे, स्नेह से स्वयम् सींचे हुए फल से रहित आश्रम के छोटे वृक्ष की भाँति, देखते हुए किस कारण से आप दुःखी नहीं होते हो ॥ ७० ॥

*दिलीपस्य स्वकीयापुत्रत्वस्यासह्यपीडत्वकथनमित्याह—

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे ।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥ ७१ ॥

सञ्जी०—असह्यपीडमिति । हे भगवन् ! मे ममान्त्यमृणं पैतृकमृणम् । अनिर्वाणस्य मज्जनरहितस्य । 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादवः । दन्तिनो गजस्य । अरुर्मर्म तुदतीत्यरुन्तुदं मर्मस्पृक् 'व्रणोऽस्त्रियामीर्मरुः' इति । 'अरुन्तुदस्तु मर्मस्पृक्' इति चामरः । 'विध्वरुषोस्तुदः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषद०' इत्यादिना मुमागमः । आलानं बन्धनस्तम्भमिव । 'आलानं बन्धनस्तम्भे' इत्यमरः । असह्या सोढुमशक्या पीडा दुःखं यस्मिंस्तदवेहि । दुःसहदुःखजनकं विद्धीत्यर्थः । 'निर्वाणोत्थानशयनानि त्रीणि गजकर्माणि' इति पालकाप्ये (ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां दानकर्मणा । सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत्) ॥

अ०—हे भगवन् !, मे, अन्त्यम्, ऋणम्, अनिर्वाणस्य, दन्तिनः, अरुन्तुदम्, आलानम् , इव, असह्यपीडम्, अवेहि ॥ वा०—हे भगवन् ! मेऽन्त्यमृणमनिर्वाणस्य दन्तिनोऽरुन्तुदमालानमिवासह्यपीडं त्वयाऽवेयताम् ॥

सुधा—हे भगवन् = षडैश्वर्यशालिन् ! मे = मम 'दिलीपस्य' इत्यर्थः । अन्त्यं = देवर्षिपितृसम्बन्धि ऋणस्य चरमम्, ऋणम् = पित्रुद्धारम्, अनिर्वाणस्य= निर्वाणसंज्ञक गजस्य, मज्जनकर्मरहितस्येत्यर्थः । दन्तिनः = हस्तिनः । अरुन्तुदम् = मर्मस्पृशम्, आलानम् = बन्धनस्तम्भम्, इव = यथा असह्यपीडं = दुःसहव्यथाकरम्, अवेहि = जानीहि ॥

स०—सोढुं योग्या सह्या न सह्येत्यसह्या असह्या पीडा यस्मिंस्तदसह्यपीडम् ॥

को०—'पीडा बाधा व्यथा दुःखमामनस्यं प्रसूतिजम्। 'स्यात्कष्टं कृच्छ्रमाभील त्रिष्वेषां भेद्यगामि यत्' इत्यमरः। 'स्यादृणं पर्युदञ्चनम्। उद्धारः' इति। 'अन्तो जघन्यं चरममन्त्यपाश्चात्यपश्चिमाः' इति। 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः' इति। 'अरुन्तुदस्तु मर्मस्पृग्' इति। 'दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः' इति चामरः।

ता०—हे भगवन्! मम सम्प्रति पैतृकमृणं तथा दुःसहदुःखकरं भवति यथा स्नानकर्मरहितस्य गजस्य मर्मस्पृग् बन्धनस्तम्भोऽसह्यदुःखो भवति ॥ ७१ ॥

इन्दुः—हे भगवन्! मेरे अन्तिम 'पैतृक' ऋण को, बिना स्नान किये हुए हाथी के मर्म को दुःख देने वाले बांधने के खम्भे की तरह असह्य पीड़ा 'पहुँचाने' वाला 'आप' समझें ॥ ७१ ॥

*दिलीपस्य पुत्रप्राप्तौ प्रयत्नं कर्तुं वशिष्ठं प्रति कथनमित्याह—

तस्मान्मुच्ये यथा तात ! संविधातुं तथाऽर्हसि ।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥ ७२ ॥

सञ्जी०—तस्मादिति। हे तात! तस्मात्पैतृकादृणाद्यथा मुच्ये मुक्तो भवामि। कर्मणि लट्। तथा संविधातुं कर्तुमर्हसि। हि यस्मात्कारणादिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुवंश्यानाम् तद्राजत्वाद्बहुष्वणो लुक्। दुरापे दुष्प्राप्येऽर्थे। सिद्धयस्त्वदधीनास्त्वदायत्ताः। इक्ष्वाकूणामिति शेषे षष्ठी 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन कृद्योगे षष्ठीनिषेधात् ॥

अ०—'हे' तात !; तस्मात्, यथा, मुच्ये, तथा संविधातुं, 'त्वम्' अर्हसि, हि इक्ष्वाकूणां, दुरापे, अर्थे, सिद्धयः, त्वदधीनाः। वा०—हे तात! तस्माद् यथा मया मुच्यते तथा संविधातुं त्वया अर्ह्यते हि, इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे सिद्धिभिस्त्वदधीनाभिर्भूयते।

सुधा—हे तात !=हे पितः! तस्मात्=पैतृकादृणात् 'पुत्रोत्पत्तिकरणाद्' इति यावद्। यथा=येन प्रकारेण, मुच्ये=मुक्तो भवामि, तथा=तेन प्रकारेण, संविधातुं= कर्तुं, 'त्वम्' अर्हसि=योग्योऽसि, हि=यस्मात्कारणाद्, 'इक्ष्वाकूणाम्=इक्ष्वाकुवंशोद्भवानां, दुरापे=दुष्प्राप्ये, अर्थे=प्रयोजने, सिद्धयः=कार्यसिद्धयः, त्वदधीनाः= त्वदायत्ताः, 'सन्ति' इति शेषः ॥

स०—अधि उपरि–इनो यासां ता अधीनाः तव–अधीनास्त्वदधीनाः ॥

को०—'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः। 'अर्थो हेतौ प्रयोजने। निवृत्तौ विषये वाच्ये प्रकारद्रव्यवस्तुषु' इति हैमः।

ता०—हे तात! इक्ष्वाकुकुलजातानां राज्ञां दुष्करकार्यसिद्धयस्त्वदधीनाः, अतः पैतृकादृणाद् यथा मुक्तो भवामि तथा कर्तुं त्वं योग्यो भव, अर्थादुद्धरेति भावः ॥

इन्दुः—हे तात ! उस 'पैतृक ऋण' किस प्रकार से मैं छुटकारा पाऊँ उस प्रकार से 'उसे' करने के लिये आप योग्य हो । क्योंकि इक्ष्वाकुकुल के राजाओं के कठिन कार्य के विषय में सिद्धियाँ आप के अधीन हैं ॥ ७२ ॥

* दिलीपप्रश्नं श्रुत्वा वशिष्ठस्य तदुपरि विचार इत्याह—

इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचनः ।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ॥ ७३ ॥

सञ्जी०—इतीति । इति राजा विज्ञापित ऋषिर्ध्यानेन स्तिमिते लोचने यस्य स ध्यानस्तिमितलोचनो निश्चलाक्षः सन्क्षणमात्रं सुप्तमीनो ह्रद इव तस्थौ ॥

अ०—इति, राज्ञा, विज्ञापितः, ऋषिः, ध्यानस्तिमितलोचनः, 'सन्' क्षणमात्रं, सुप्तमीनः, ह्रदः, इव तस्थौ ॥ वा०—इति राज्ञा विज्ञापितेन ऋषिणा ध्यानस्तिमितलोचनेन 'सता' क्षणमात्रं सुप्तमीनेन ह्रदेनेव तस्थे ॥

सुधा—इति = इत्थं, राज्ञा = नृपेण 'दिलीपेन' इत्यर्थः । विज्ञापितः = निवेदितः, ऋषिः = सत्यवचाः 'महर्षिर्वशिष्ठः' इति यावद्, ध्यानस्तिमितलोचनः = चिन्तननिश्चलाक्षः, 'सन्' इति शेषः । क्षणमात्रं = त्रिंशत्कलाप्रमाणं, क्रियाविशेषणमिदम् । सुप्तमीनः = निद्रितमत्स्यः, ह्रदः = सरः, इव = यथा, तस्थौ = स्थितवान् ॥

स०—लोच्येते आभ्यामिति लोचने, ध्यानेन स्तिमिते ध्यानस्तिमिते ध्यानस्तिमिते लोचने यस्यासौ ध्यानस्तिमितलोचनः ।

को०—'क्षणः कालविशेषे स्यात् पर्वण्यवसरे मुदे । व्यापारविकलत्वे च वरतन्त्रत्वमन्ययोः' इति हैमः । 'पृथुरोमा झषो मत्स्यो मीनो वैसारिणोऽण्डजः । विसारः शकली' इति । 'तत्रागाधजलो ह्रदः' इति चामरः ॥

ता०—दिलीपस्य प्रार्थनाश्रवणानन्तरम् ऋषिर्वशिष्ठो नेत्रे निमील्य समाधिस्थः सन् ध्यानचक्षुषा पुत्राभावकारणं विचारयामास ॥

इन्दुः—इस प्रकार से राजा 'दिलीप' से निवेदन किये गये 'वशिष्ठ' ऋषि ध्यान से दोनों आँखें मूँदे हुये क्षणमात्र, सोई मछलियाँ हैं जिसमें ऐसे अगाध जलाशय की भांति स्थित रहे ॥ ७३ ॥

*वशिष्ठस्य ध्यानचक्षुषा पुत्रप्रतिबन्धकारणं विज्ञाय दिलीपं प्रति कथनमित्याह—

सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम् ।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥ ७४ ॥

सञ्जी०—स इति । स मुनिः प्रणिधानेन चित्तैकाग्र्येण भावितात्मा शुद्धान्तःकरणो भुवो भर्तुर्नृपस्य संततेः स्तम्भकारणं संतानप्रतिबन्धकारणमपश्यन् । अथानन्तरमेनं नृपं प्रत्यबोधयत् । स्वदृष्टं ज्ञापितवानित्यर्थः । एनमिति 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०' इत्यादिनाऽणि कर्तुः कर्मत्वम् ।

अ०—प्रणिधानेन, भावितात्मा, भुवः, भर्तुः, सन्ततेः स्तम्भकारणम् , अपश्यत् , अथ, एनम्, प्रत्यबोधयत् ॥ वा०—प्रणिधानेन भावितात्मना तेन भुवो भर्तुः सन्ततेः स्तम्भकारणमदृश्यत, अथैष प्रत्यबोध्यत ॥

सुधा—प्रणिधानेन = समाधिना, चित्तस्य समाहित्येत्यर्थः। भावितात्मा=पवित्रान्तःकरणः, सः = महर्षिर्वशिष्ठः, भूमेः=मह्याः, भर्तुः=स्वामिनः, 'दिलीपस्य' इति भावः। सन्ततेः=पुत्रस्य, स्तम्भकारणम् = प्रतिबन्धहेतुम्, अपश्यद् = दृष्टवान् , अथ=पश्चात् , सन्तानप्रतिबन्धकारणदर्शनानन्तरमिति यावद् । एवं = दिलीपम् प्रत्यबोधयत्=प्रतिज्ञापितवान् ।

स०—स्तम्भस्य कारणं तत्स्तम्भकारणम् ।

को०—'हेतुर्ना कारणं बीजम्' इत्यमरः। 'भर्त्ता स्वामिनि पुंसि स्यात् त्रिषु धातरि पोष्टरि' इति मेदिनी ।

ता०—समाधिस्थः सन् ऋषिर्वशिष्ठो ध्यानचक्षुषा राज्ञो दिलीपस्य सन्तानप्रतिबन्धकारणं स्वयं निरीक्ष्य तदनन्तरं तं बोधितवान् ॥

इन्दुः—चित्त की एकाग्रता द्वारा शुद्ध अन्तःकरण वाले उन 'वशिष्ठ ऋषि' ने पृथ्वी के पालन करनेवाले 'राजा दिलीप' की सन्तति के प्रतिबन्ध 'न होने' के कारण को देखा, उसके बाद इन 'राजा दिलीप' को भी बतलाया ॥ ७४ ॥

*वशिष्ठस्य राज्ञः सन्तानप्रतिबन्धकारणकथनमित्यत्राह—

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ ७५ ॥

सञ्जी०—पुरेति। पुरा पूर्वं शक्रमिन्द्रमुपस्थाय संसेव्योर्वीं प्रति भुवमुद्दिश्य यास्यतो गमिष्यतस्तव पथि वर्त्मनि कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः कामधेनुरासीत्। तत्र स्थितेत्यर्थः।

अ०—पुरा, शक्रम्, उपस्थाय, उर्वीम्, प्रति, यास्यतः, तव, पथि, कल्पतरुच्छायाम्, आश्रिता, सुरभिः, आसीत्। वा०—पुरा शक्रमुपस्थायोर्वीं प्रति यास्यतस्तव पथि कल्पतरुच्छायामाश्रितया सुरभ्याऽभूयत ।

सुधा—पुरा = आदौ, शक्रं=दिवस्पतिम्, इन्द्रमिति यावद् । उपस्थाय=उपस्थानं कृत्वा, 'संसेव्य' इत्यर्थः। उर्वीम् प्रति=वसुन्धरामुद्दिश्य, यास्यतः = गमिष्यतः 'भूलोकमुद्दिश्य स्वर्गतः परावर्तमानस्य' इति भावः। तव = भवतः, 'दिलीपस्य' इत्यर्थः। पथि = अध्वनि, 'स्वर्गलोकमण्डलमार्गे' इति भावः। कल्पतरुच्छायां = देवतरोरधोभागे, मन्दारपारिजातकसन्तानकल्पतरुवृक्षहरिचन्दनैकतरदेवतरोश्छायाम्' इति भावः। आश्रिता = सेविता, तत्र स्थितेति भावः। सुरभिः=कामधेनुः, आसीत् = अभवत् ।

स०—कल्पतरोः छाया कल्पतरुच्छाया तां कल्पतरुच्छायाम् ।

को०—'जिष्णुर्लेखर्षभः शक्रः शतमन्युर्दिवस्पतिः' इति । 'सर्वंसहा वसुमती वसुधोर्वी वसुन्धरा' इति । 'सुगन्धे च मनोज्ञे च वाच्यवत् सुरभिः स्मृतः'इति विश्वः ।

ता०—स्वर्गाद् भूलोकमागच्छता त्वया वर्त्मनि सुरतरुच्छायायां निषण्णा कामधेनुर्दृष्टा ।

इन्दुः—'पहले किसी समय में' इन्द्र का दर्बार करके पृथ्वी की ओर लौटते हुए तुम्हारे मार्ग में कल्पवृक्ष की छाया का सेवन करती हुई कामधेनु थी ॥ ७५ ॥

ततः किमित्याह—*कामधेनोः प्रदक्षिणाकरणे हेतुं प्रदर्शयन्नाह—

धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥ ७६ ॥

सञ्जी०-धर्मेति । ऋतुः पुष्पं रज इति यावत् । 'ऋतुः स्त्रीकुसुमेऽपि च'इत्यमरः । ऋतुना निमित्तेन स्नातामिमां राज्ञीं सुदक्षिणां धर्मस्यर्त्वभिगमनलक्षणस्य लोपाद् भ्रंशाद्यद् भयं तस्मात्स्मरन्ध्यायन् । (मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत विज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥) इति शास्त्रात्प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां प्रदक्षिणकरणयोग्यायां तस्यां धेन्वां त्वं साधु प्रदक्षिणादिसत्कारं नाचरो नाचरितवानसि व्यासक्ता हि विस्मरन्तीति भावः । ऋतुकालाभिगमने मनुः—(ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा) इति । अकरणे दोषमाह पराशरः—(ऋतुस्नातां तु यो भार्यां स्वस्थः सन्नावगच्छति । बालगोघ्नापराधेन विध्यते नात्र संशयः ॥) इति । तथा च—(ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति । घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः) इति ।

अ—ऋतुस्नाताम्, इमां, राज्ञीं, धर्मलोपभयात् , स्मरन् , प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां, तस्यां, त्वं, साधु, न, आचरः । वा०—ऋतुस्नातामिमां राज्ञीं धर्मलोपभयात् स्मरता 'सता' त्वया प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां तस्यां साधु नाचर्यत ।

सुधा—ऋतुस्नातां = रजोदर्शननिमित्तककृतस्नानाम्, इमाम् = अग्रे स्थितां, राज्ञीं = पत्नीं, सुदक्षिणामित्यर्थः । धर्मलोपभयाद् = ऋतुकालाभिगमनरूपाचारभ्रंशभीत्या, स्मरन् = अनुचिन्तयन्, प्रदक्षिणक्रियार्हायाम् = प्रदक्षिणकरणयोग्यायां, शास्त्रादिति शेषः । तस्याम् = पूर्वोक्तायां, धेन्वामिति यावत्, त्वम् = भवान्, दिलीपः इति भावः । साधु = चारु, प्रदक्षिणादिसत्कारमित्यर्थः । न = नहि, आचरः = विहितवानसि ।

स०—धर्मस्य लोपो धर्मलोपः धर्मलोपाद् भयं धर्मलोपभयं तस्माद् धर्मलोपभयात् । प्रगतं दक्षिणं प्रदक्षिणं तस्य क्रिया प्रदक्षिणक्रिया, अर्हति या सा अर्हा प्रदक्षिणक्रियायामर्हा प्रदक्षिणक्रियाऽर्हा तस्यां प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायाम् ।

को०—'ऋतुर्वर्षाऽऽदिषट्सु च । आर्तवे मासि च पुमान्' इति मेदिनी ।

ता०—पथि तां कामधेनुं दृष्ट्वाऽपि ऋतुकालाभिगमनधर्मनाशभीत्या राज्ञीं चि-

न्तयन् सन्, त्वं तस्यां, प्रदक्षिणादिसत्कारविधिं न विहितवान् ॥

इन्दुः—ऋतुकाल (रजोदर्शन)—निमित्तक स्नान की हुई, इस रानी सुदक्षिण को धर्म के लोप के भय से स्मरण करते हुए तुमने प्रदक्षिणक्रिया के योग्य उस कामधेनु के विषय में उचित 'प्रदक्षिणादि सत्कार' नहीं किया ॥ ७६ ॥

अनादृतायाः सुरभेर्दिलीपाय शापप्रदानमित्याह—

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥ ७७ ॥

सञ्जी०—अवजानासीति । यस्मात्कारणान्मामवजानासि तिरस्करोषि । अतः कारणान्मत्प्रसूतिं मम संततिमनाराध्यासेवयित्वा ते तव प्रजा न भविष्यतीति सा सुरभिस्त्वां शशाप । 'शप आक्रोशे' ।

अ०—यस्माद्, माम्, अवजानासि, अतः, मत्प्रसूतिम्, अनाराध्य, ते, प्रजा, न, भविष्यति, इति, सा, त्वां, शशाप । वा०—यस्मात् 'त्वया' अहमवज्ञायेऽतो मत्प्रसूतिमनाराध्य ते प्रजया न भविष्यत इति तया त्वं शेपे ॥

सुधा—यस्मात्=यतः, कारणादिति यावद् । माम्=प्रदक्षिणक्रियाऽर्हां, सुरभिम्, इति यावत् । अवजानासि=तिरस्करोषि । अतः=एतस्मात्, कारणादिति यावद् । मत्प्रसूतिम्=मम संततिं, सौरभेयीं नन्दिनीमिति भावः । अनाराध्य=असेवयित्वा, ते=तव, प्रजा=सन्ततिः, न=नहि, भविष्यति=उत्पत्स्यते, इति=इत्थं सा=कामधेनुः, त्वां=भवन्तं दिलीपमिति भावः । शशाप=शप्तवती । मदवज्ञारूपापराधेन मदात्मजासेवनं विना न ते प्रजा भविष्यतीति सा त्वां शशापेति भावः ॥

स०—मम प्रसूतिर्मत्प्रसूतिस्ताम् मत्प्रसूतिम् ।

को०—'प्रसूतिरुद्भवेऽपि स्यात्तनये दुहितर्यपि' इति मेदिनी ।

ता०—यस्मात्प्रदक्षिणक्रियाऽर्हामपि मामवजानास्यतो यावन्मद्दुहितरं न सेविष्यसे तावत् ते प्रजाऽपि न भविष्यतीति सा कामधेनुस्त्वामशपत् ॥

इन्दुः—तूने मेरा अनादर किया इस कारण से मेरी सन्तति की आराधना किए विना तुझे संतान नहीं होगा ऐसा उस 'कामधेनु' ने तुम्हें शाप दिया ॥ ७७ ॥

कथं तदस्माभिर्न श्रुतमित्याह—

स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुतः ।
नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥ ७८ ॥

सञ्जी०—स इति । हे राजन् ! स शापस्त्वया न श्रुतः सारथिना च न श्रुतः । अश्रवणे हेतुमाह-क्रीडाऽर्थमागता उद्दामानो दाम्न उद्गता दिग्गजा यस्मिंस्तथोक्ते । आकाशगङ्गाया मन्दाकिन्याः स्रोतसि प्रवाहे नदति सति ॥

अ०—हे राजन् !, सः, शापः, त्वया, न श्रुतः, च, सारथिना, न 'श्रुतः' उद्दाम-

दिग्गजे, आकाशगङ्गायाः स्रोतसि, नदति, 'सति' ॥ वा०—हे राजन् ! तं शापं त्वं नाश्रौषीः सारथिश्च नाश्रौषीत्, उद्दामदिग्गज आकाशगङ्गायाः स्रोतसि नदति सति।

सुधा—हे राजन् ! = हे नृप ! हे दिलीप ! इति यावत्। सः = पूर्वोक्तः, शापः= आक्रोशः, 'प्रजा ते न भविष्यति' इत्यात्मकः। त्वया = भवता, न=नहि, श्रुतः = शुश्रुवे। च = पुनः, सारथिना=सूतेन, न = नहि, 'श्रुतः' इति शेषः। उद्दामदिग्गजे= उच्छृङ्खलदिङ्नागे, आकाशगङ्गायाः = वियद्गङ्गायाः 'मन्दाकिन्याः' इति यावत्। स्रोतसि = प्रवाहे, नदति = शब्दायमाने, अव्यक्तं हरहरेतिशब्दं कुर्वतीति भावः। 'सति' इति शेषः। सुरनदीप्रवाहशब्दतुमुले कामधेनुशब्दस्य विलीनत्वात् त्वया न श्रुत इत्यर्थः॥

स०—दाम्न उद्गता उद्दामानः, दिशां गजा दिग्गजाः 'ऐरावतादयः' उद्दामानो दिग्गजा यत्र तदुद्दामदिग्गजं तस्मिन्नुद्दामदिग्गजे।

को०—'नियन्ता प्राजिता, यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः। सव्येष्ठदक्षिणस्थौ च संज्ञा रथकुटुम्बिनः' इत्यमरः।

ता०—हे राजन् ! त्वं तं शापं न श्रुतवान्, तथा सारथिरपि न श्रुतवान्, यतो मन्दाकिन्याः प्रवाहेऽवगाहमानानामुद्गतबन्धनानामैरावतप्रभृतीनां दिग्गजानां महानव्यक्तः शब्द आसीत्।

इन्दुः—हे राजन् ! उस शाप को तुमने और सारथि ने भी नहीं सुना। क्योंकि 'स्नान करने के लिये आये हुये अत एव बन्धन से छूटे हुये ऐरावत आदि' दिग्गजों का आकाशगङ्गा (मन्दाकिनी) के प्रवाह में अव्यक्त शब्द हो रहा था॥ ७८॥

अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत्राह—

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः॥ ७९॥

सञ्जी०—ईप्सितमिति। तदवज्ञानात्तस्या धेनोरवज्ञानादपमानादात्मनः स्वस्याप्तुमिष्टमीप्सितं मनोरथम्। आप्नोतेः सन्नन्तात्क्त ईकारश्च। सार्गलं सप्रतिबन्धं विद्धि जानीहि। तथाहि पूज्यपूजाया व्यतिक्रमोऽतिक्रमणं श्रेयः प्रतिबध्नाति॥

अ०—तदवज्ञानाद्, आत्मनः, ईप्सितं, सार्गलं, विद्धि, हि, पूज्यपूजाव्यतिक्रमः, श्रेयः, प्रतिबध्नाति॥ वा०—तदवज्ञानादीप्सितं सार्गलं 'त्वया' विद्यतां, हि पूज्यपूजाव्यतिक्रमेण श्रेयः प्रतिबध्यते॥

सुधा—तदवज्ञानात्=सुरभेस्तिरस्क्रियायाः, अपमानादिति यावद्। आत्मनः = स्वस्य, दिलीपस्येत्यर्थः। ईप्सितम् = अभीष्टं 'सन्ततिरूपम्' इति यावत्। सार्गलम् = प्रतिबन्धसहितं, विद्धि = अवेहि, त्वमिति शेषः। हि = यतः, पूज्यपूजाव्यतिक्रमः = पूजाऽर्हार्चाऽतिक्रमणं, श्रेयः = शुभम्, प्रतिबध्नाति = निरुणद्धि॥

स०—पूजितुं योग्याः पूज्याः तेषां पूजा पूज्यपूजा तस्या व्यतिक्रमः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।

को०—'अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया। रीढाऽवमाननावज्ञाऽवहेलनमसूर्क्षणम्' इति चामरः।

ता०—तस्य धेनोरनादरतस्ते सन्तानरूपस्य मनोरथस्य प्रतिबन्धो जातो यतः पूज्यानां पूजालङ्घनं कल्याणम् प्रतिबध्नात्येव।

इन्दुः—उस कामधेनु का अनादर करने से अपने 'सन्तानरूप' मनोरथ को तुम रुका हुआ समझो। क्योंकि पूज्यों की पूजा का उल्लङ्घन करना कल्याण को रोकता है॥

तर्हि गत्वा तामाराधयामि। सा वा कथंचिदागमिष्यतीत्याशा न कर्त्तव्येत्याह—

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः।
भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति॥ ८०॥

सञ्जी०—हविष इति। सा च सुरभिरिदानीं सत्रं चिरकालसाध्यो यागविशेषो यस्य तस्य प्रचेतसो हविषे दध्याज्यादिहविरर्थं भुजङ्गावरुद्धद्वारं ततो दुष्प्रवेशं पातालमधितिष्ठति। पाताले तिष्ठतीत्यर्थः। 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम्॥

अ०—सा, च, इदानीं, दीर्घसत्रस्य, प्रचेतसः, हविषे, भुजङ्गपिहितद्वारम्, पातालम्, अधितिष्ठति॥ वा०—तया चेदानीं दीर्घसत्रस्य प्रचेतसो हविषे भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधिष्ठीयते॥

सुधा—सा = सुरभिः, च = पुनः, इदानीम् = अस्मिन् काले, दीर्घसत्रस्य = बहुसमयसाध्ययज्ञविशेषकारिणः, प्रचेतसः = पाशिनः, वरुणस्येति यावद्। हविषे = दध्याज्यादिहविःसामग्रीसम्पादनार्थम्, भुजङ्गपिहितद्वारम् = भुजगावरुद्धप्रतीहारम्, 'अत एव दुष्प्रवेशम्' पातालम् = पाताललोकम्, अधितिष्ठति = अध्यास्ते 'पाताले वर्त्तते' इति भावः॥

स०—भुजाभ्यां गच्छन्तीति भुजङ्गाः तैः पिहितं भुजङ्गपिहितं भुजङ्गपिहितं द्वारं यस्य तद् भुजङ्गपिहितद्वारम्।

को०—'हविर्होतव्यमात्रे च सर्पिष्यपि नपुंसकम्' इति। 'सत्त्रं यज्ञे सदादानाच्छादनारण्यकैतवे' इति च मेदिनी। 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः' इति चामरः।

ता०—सा च कामधेनुः सम्प्रति बहुसमयसाध्ययज्ञकर्तुर्वरुणस्य यज्ञे दध्याज्यादिहविःसामग्रीसम्पादनार्थम् भुजङ्गावरुद्धप्रवेशमार्गे पाताले तिष्ठतीत्यतस्तत्र गन्तुमशक्यम्।

इन्दु—और वह कामधेनु इस समय बहुत समय में पूर्ण होने वाले यज्ञ के कर्त्ता वरुण के हवि 'दधि, घृत आदि' के लिये साँपों से रुके हुए द्वारवाले पाताल लोक में रहती है॥ ८०॥

तर्हि का गतिरित्याह—

सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥ ८१ ॥

सञ्जी०—सुतामिति । तस्याः सुरभेरियं तदीया तां, सुतां सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा शुचिः शुद्धः । सह पत्न्या वर्तत इति सपत्नीकः सन् । 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः । आराधय । हि यस्मात्कारणात्सा प्रीता तुष्टा सती । कामान्दोग्धीति कामदुघा भवति । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययो घादेशश्च ।

अ०—तदीयां, सुतां, सुरभेः, प्रतिनिधिं, कृत्वा, शुचिः, 'भूत्वा' सपत्नीकः, 'सन्' आराधय, हि सा, प्रीता, 'सती' कामदुघा, 'भवति' । वा०—तदीयां सुतां सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा शुचिना सपत्नीकेन त्वयाऽऽराध्यतां हि तया प्रीतया सत्या कामदुघया भूयते ।

सुधा—तदीयां = सुरभिसम्बन्धिनीं, सुताम् = आत्मजां, नन्दिनीमिति यावत् । सुरभेः = कामधेनोः, प्रतिनिधिम् = प्रतिच्छायां, स्थानापन्नामिति यावत् । कृत्वा = विधाय, शुचिः = शुद्धः, 'भूत्वा' इति शेषः । सपत्नीकः = भार्यासहितः, 'सन्' इति शेषः । आराधय = आराधनां कुरु, हि = यतः, सा = नन्दिनी, प्रीता = प्रसन्ना, 'सती' इति शेषः । कामदुघा = अभीष्टफलप्रसविनी, 'भवति' इति शेषः । कामधेनोरभावे तदीयां सुतां सेवस्व सैव तवाभीष्टदायिनी भविष्यति ।

स०—पत्न्या सह वर्त्तते यः स सपत्नीकः ।

को०—'शुचिर्ग्रीष्माग्निशृङ्गारेष्वाषाढे शुद्धमन्त्रिणि । ज्येष्ठे च पुंसि धवले शुद्धेऽनुपहते त्रिषु' इति मेदिनी ।

ता०—तस्याः पातललोकस्थितायाः कामधेनोः सुतां नन्दिनीनाम्नीं तत्स्थानापन्नां कृत्वा पवित्रमनाः सुदक्षिणासहितस्त्वं शुश्रूषस्व यतस्त्वत्सेवया सा प्रसन्ना सती तवाभीष्टफलदायिनी भविष्यति ।

इन्दुः—उस कामधेनु की लड़की को उसी के 'स्थान पर' प्रतिनिधि करके तुम शुद्ध मन होकर रानी के सहित उसकी सेवा करो, क्योंकि वह 'नन्दिनी' प्रसन्न होती हुई मनोरथ को पूरा करने वाली होती है ॥ ८१ ॥

*कामधेनुसुताया नन्दिन्या वनादागमनमित्यत्राह—

इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम् ।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥ ८२ ॥

सञ्जी०—इतीति । इति वादिनो वदत एव होतुर्हवनशीलस्य । 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः । अस्य मुनेराहुतीनां साधनं कारणम् । नन्दयतीति व्युत्पत्त्या नन्दिनी नामानिन्द्याऽगर्ह्या प्रशस्ता धेनुर्वनादाववृते प्रत्यागता । 'अध्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्' इति भावः ।

अ०—इति वादिनः, एव, होतुः, अस्य, आहुतिसाधनं' नन्दिनी, नाम, अनिन्द्य धेनुः, वनाद्, आववृते । वा०—इति वादिन एव होतुराहुतिसाधनेन नन्दिन्या नामानिन्द्यया धेन्वा वनादाववृते ।

सुधा—इति वादिनः = एवं कथयतः, एव, होतुः = हवनकर्तुः, हवनशीलस्य, इति यावद् । अस्य=मुनेः 'वशिष्ठस्य' इत्यर्थः । आहुतिसाधनं = हवनसामग्रीकारण नन्दिनी=नन्दिनीत्याह्वा, नाम = प्रसिद्धावव्ययमेतद्, अनिन्द्या,=अगर्ह्या, प्रशस्तेति यावद् । धेनुः = नवसूतिका 'कामधेनुसुता' इत्यर्थः । वनाद् = विपिनाद्, आव वृते = प्रत्याजगाम ।

स०—साध्यतेऽनेनेति साधनम् आहुतीनां साधनमाहुतिसाधनम् ।

को०—'इति स्वरूपे सान्निध्ये विवक्षानियमेऽपि च । हेतौ प्रकारप्रत्यक्षमप्रकर्षेष्व-वधारणे । एवमर्थे समाप्तौ स्याद्' इति हैमः । 'एवौपम्येऽवधारणे' इति विश्वः ।

ता०—इत्थं दिलीपं प्रति कामधेनुस्थानापन्नायास्तत्सुताया नन्दिनीनाम्न्याः सेवां कर्तुं कथयतस्तस्य वशिष्ठस्य यज्ञ आहुतिसामग्रीदध्याज्यादिसाधनं नन्दिन नाम धेनुर्वनात् प्रत्याजगाम । तद्वर्णनक्षण एव नन्दिनीदर्शनेन तत्कार्यसिद्धिरविल-म्बेन भविष्यतीति सूचिता ।

इन्दुः—इस प्रकार से कहते हुए ही उन वशिष्ठमहर्षि की आहुति का साधन 'नन्दिनी' नाम से प्रसिद्ध 'नई ब्याई हुई' धेनु वन से लौटकर आई ॥ ८२ ॥

सम्प्रति धेनुं विशिनष्टि—

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला ।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥ ८३ ॥

सञ्जी०—ललाटेति । पल्लववत्स्निग्धा चासौ पाटला च । संध्यायामप्येतद्विशेषणं योज्यम् । ललाट उदयो यस्य स ललाटोदयः तमाभुग्नमीषद्वक्रम् । 'आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यमरः । 'ओदितश्च' इति निष्ठा तस्य नत्वम् । श्वेतरो-माण्येवाङ्कस्तं बिभ्रती । नवं शशिनं बिभ्रती संध्येव स्थिता ।

अ०—पल्लवस्निग्धपाटला, ललाटोदयम्, आभुग्नं, श्वेतरोमाङ्कं, बिभ्रती, नवं, शशिनम् 'बिभ्रती' सन्ध्या, इव 'स्थिता' । वा०—पल्लवस्निग्धपाटलया ललाटो-दयमाभुग्नं श्वेतरोमाङ्कं बिभ्रत्या नवं शशिनं बिभ्रत्या सन्ध्ययेव स्थितया 'नन्दि-न्या वनादाववृते'

सुधा—पल्लवस्निग्धपाटला = किसलयमसृणश्वेतमिश्ररक्तवर्णा, सन्ध्यापक्षेऽपीद-मेव विशेषणम् । ललाटोदयम् = भालस्थलोन्नतिकम् 'भालोद्भूतम्' इति यावद् । आभुग्नम् = ईषत्कुटिलं, श्वेतरोमाङ्कं = धवललोमलक्षणम्, बिभ्रती = दधाना, नवं = नूतनं, 'द्वितीयातिथावुदितम्' इति भावः । शशिनं = चन्द्रम्, 'बिभ्रती' सन्ध्या = पितृप्रसूः, सन्ध्याकाल इति यावद् । इव = यथा, 'स्थिता' इति शेषः ।

स०—श्वेतानि च तानि रोमाणि श्वेतरोमाणि श्वेतरोमाण्येवाङ्कः श्वेतरोमाङ्कः तं श्वेतरोमाङ्कम् । सम्यग् ध्यायन्त्यस्यामिति सन्ध्या ।

को०—'आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि' इति । 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इति । 'चिक्कणम् मसृणं स्निग्धम्' इति । 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इति । 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डुराः । अवदातः सितो गौरो वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इति चामरः ।

ता०—नूतनपल्लववत् चिक्कणश्वेतमिश्ररक्तवर्णा यथा सन्ध्या द्वितीयाचन्द्रं धारयन्ती स्थिता तथैव नन्दिन्यपि ललाटोद्भूतमीषद्वक्रं श्वेतरोमाङ्कं धारयन्ती मुनिसमीपे वनात्परावृत्य स्थिता ॥

इन्दुः—पल्लव की तरह चिक्कण श्वेतयुक्त लाल रङ्गवाली, ललाट में उत्पन्न हुये, कुछ टेढ़े सफेद रोयें रूपी चिह्न को धारण करती हुई, अत एव द्वितीया के चन्द्रमा को धारण करती हुई सन्ध्या के समान वह नन्दिनी (वन से लौट कर आई) ॥८३॥

*पुनरपि धेनुवर्णनप्रसङ्गेनाह—

भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ ८४ ॥

सञ्जी०—भुवमिति । कोष्णेन किंचिदुष्णेन । 'कवं चोष्णे' इति चकारात्कादेशः । अवभृथादप्यवभृथस्नानादपि मेध्येन पवित्रेण । 'पूतं पवित्रं मेध्यं च' इत्यमरः । वत्सस्यालोकेन प्रदर्शनेन प्रवर्तिना प्रवहता । प्रस्नवेन क्षीराभिष्यन्दनेन भुवमभिवर्षन्ती सिञ्चन्ती । कुण्डमिवोध आपीनं यस्याः सा कुण्डोध्नी । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः । 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' ॥

अ०—कोष्णेन, अवभृथाद्, अपि मेध्येन, वत्सालोकप्रवर्त्तिना, प्रस्नवेन, भुवम्, अभिवर्षन्ती, कुण्डोध्नी, 'नन्दिनी, वनाद् , आववृते' । वा०—कोष्णेनावभृथादपि मेध्येन वत्सालोकप्रवर्त्तिना प्रस्नवेन भुवमभिवर्षन्त्या कुण्डोध्न्या 'वनादाववृते' ॥

सुधा—कोष्णेन = ईषदुष्णेन, अवभृथाद् = दीक्षाऽन्ताद्, यज्ञे दीक्षायाः समापकादिष्टिपूर्वकस्नानविशेषादित्यर्थः । अपि = समुच्चये, मेध्येन = पूतेन, वत्सालोकप्रवर्त्तिना = शकृत्करिपुत्रदर्शनप्रवहता, प्रस्नवेन = अभिष्यन्देन, क्षीरस्येति शेषः । भुवं = भूमिम्, अभिवर्षन्ती = सिञ्चन्ती, कुण्डोध्नी = स्थाल्युपमापीनवती, 'सा नन्दिनी वनादाववृते' पूर्वश्लोकेनान्वीयते ॥

अ०—आ समन्ताल्लोकनमालोकः, प्रकर्षेण वर्तितुं शीलमस्येति प्रवर्त्ती, वत्सस्यालोको वत्सालोकः तेन प्रवर्ती वत्सालोकप्रवर्ती तेन वत्सालोकप्रवर्तिना ॥

को०—'कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णम्' इति । 'पिठरः स्थाल्युखा कुण्डम्' इति । 'ऊधस्तु क्लीवमापीनम्' इति । 'दीक्षाऽन्तोऽवभृथो यज्ञे' इति । 'शकृत्करिस्तु वत्सः स्वाद्' इति सर्वत्राप्यमरः ॥

ता०—ईषदुष्णेन यज्ञान्तस्नानार्थकजलादपि पवित्रेण वत्सदर्शनेन प्रवहता क्षीराभिष्यन्दनेन पृथ्वीं सिञ्चन्ती, अतएव-स्थालीसदृशपीनस्तनी नन्दिनी वनादाववृते॥

इन्दुः—कुछ गरम, यज्ञ के अन्त में इष्टिपूर्वक स्नानार्थ जल से भी पवित्र बछड़े के देखने से बहते हुये दूध के टपकने से पृथिवी को सींचती हुई, अत एव बटलोई की भाँति मोटे थनोंवाली 'नन्दिनी वन से लौटी' ॥ ८४ ॥

*नन्दिन्याः खुरोद्धूतरजसां पूतत्ववर्णनपूर्वकं तां विशिनष्टि—

रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥ ८५ ॥

सञ्जी०—रज इति । खुरोद्धूतैरन्तिकात्समीपे गात्रं स्पृशद्भिः । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति चकारात्पञ्चमी । रजसां कणैः । महीं क्षियत ईष्ट इति महीक्षित्तस्य । तीर्थाभिषेकेण जातां तीर्थाभिषेकजाम् । शुद्धिमादधाना कुर्वाणा । एतेन वायव्यं स्नानमुक्तम् । उक्तं च मनुना—'आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्यं तु वारुणम् । आपो हिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम्' ॥ इति ॥

अ०—खुरोद्धूतैः, अन्तिकाद्, गात्रं, स्पृशद्भिः, रजःकणैः, महीक्षितः, तीर्थाभिषेकजां, शुद्धिम्, आदधाना, 'वनादाववृते' ॥ वा०—खुरोद्धूतैरन्तिकाद् गात्रं स्पृशद्भी रजःकणैर्महीक्षितस्तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधानया 'वनादाववृते' ॥

सुधा=खुरोद्धूतैः=शफोत्थैः, अन्तिकात्=समीपे, गात्रं=वपुः, स्पृशद्भिः=स्पर्शं कुर्वद्भिः, रजःकणैः=रेण्वतिसूक्ष्मांशैः, महीक्षितः=नृपस्य, दिलीपस्येति यावत्। तीर्थाभिषेकजां=अध्वराभिषेचनसम्भवां, शुद्धिं=पवित्रताम्, आदधाना=कुर्वाणा, एतेन वायव्यं स्नानमुक्तं, 'वनादाववृते' इति पूर्वेणाऽन्वयः ॥

स०—खुरन्ति विलिखन्ति क्षमामिति खुराः तैरुद्धूताः खुरोद्धूतास्तैः खुरोद्धूतैः, अभिषेचनमभिषेकः, तीर्थस्याभिषेकस्तीर्थाभिषेकः, तस्माज्जाता तीर्थाभिषेकजा तां तीर्थाभिषेकजाम् (स्त्री०)

को—'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इति । 'शफं क्लीबे खुरः पुमान्' इति । चामरः ।

ता०—खुरोत्थैरत एव समीपवर्तित्वाद् राज्ञो दिलीपस्य गात्रं स्पृशद्भिः पांसुभिः पवित्रजलाभिषेकजनितां शुद्धिं विदधती 'नन्दिनी वनादाववृते' ।

इन्दुः—खुरों से उठी हुई, अत एव समीप होने के कारण शरीर को स्पर्श करती हुई, धूलि के कणों से राजा दिलीप की, ऋषियों से सेवित तीर्थसम्बन्धी जल में स्नान करने से उत्पन्न शुद्धि को करती हुई 'नन्दिनी वन से लौटी' ॥८५॥

*तां दृष्ट्वा वशिष्ठः पुनर्दिलीपं प्रत्याह—

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

सञ्जी०—तामिति । निमित्तज्ञः शकुनज्ञस्तपोनिधिर्वशिष्ठः पुण्यं दर्शनं यस्यास्तां धेनुं दृष्ट्वा । आशंसितं मनोरथः । नपुंसके भावे क्तः । तत्राबन्ध्यं सफलं प्रार्थनं यस्य स तम् । अबन्ध्यमनोरथमित्यर्थः । याजयितुं योग्यं याज्यं पार्थिवं पुनरब्रवीत् ॥

अ०—निमित्तज्ञः, तपोनिधिः, पुण्यदर्शनां, तां दृष्ट्वा, आशंसिताबन्ध्यप्रार्थनं, याज्यम्, पुनः, अब्रवीत् ॥ वा०—निमित्तज्ञेन तपोनिधिना पुण्यदर्शनां तां दृष्ट्वाऽऽशंसिताबन्ध्यप्रार्थनो याज्यः पुनरौच्यत ॥

सुधा—निमित्तज्ञः = लक्ष्मविद्, शुभाशुभलक्षणज्ञ इति भावः । 'शकुनज्ञः' इति यावत् । तपोनिधिः = धर्मशेवधिः, वशिष्ठ इत्यर्थः । पुण्यदर्शनाम् = पवित्रावलोकनां, तां = नन्दिनीं, दृष्ट्वा = वीक्ष्य, आशंसिताबन्ध्यप्रार्थनम्=मनोरथसफलावेदनकं, सफलाभिलाषमिति भावः । याज्यं = याजनयोग्यं 'यजमानं दिलीपम्' इति भावः । पुनः = भूयः, अब्रवीत् = उवाच । नन्दिनीसेवावर्णनसमये तदागमनरूपशकुनेन दिलीपस्य सफलीभविष्यन्तम् मनोरथं ज्ञात्वा, आहेति भावः ॥

स०—निधीयतेऽस्मिन्निति निधिः तपसां निधिस्तपोनिधिः । 'अफलम्'बध्नातीति बन्ध्या न बन्ध्येत्यबन्ध्या आशंसितेऽबन्ध्या आशंसिताबन्ध्या आशंसिताबन्ध्या प्रार्थना यस्य स आशंसिताबन्ध्यप्रार्थनः तमाशंसिताबन्ध्यप्रार्थनम् ॥

को०—पुण्यं मनोज्ञेऽभिहितं तथा सुकृतधर्मयोः' इति विश्वः । 'निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः' इत्यमरः । 'तपश्चान्द्रायणादौ स्याद्धर्मे लोकान्तरेऽपि च' इति विश्वः ।

ता०—शकुनशास्त्रवेत्ता वशिष्ठो मुनिस्तां नन्दिनीमवलोक्यात एव सफलमनोरथं दिलीपं सम्भाव्य सम्प्रति पुनरुवाच ॥

इन्दुः—शकुनशास्त्र के जाननेवाले, तपोनिधि 'वशिष्ठजी' पवित्र (सुन्दर) दर्शनवाली, 'उस नन्दिनी' को देखकर 'पुत्रप्राप्तिरूप' मनोरथ के विषय में सफल है प्रार्थना जिसकी, ऐसे, यज्ञ कराने के योग्य (यजमान) 'राजा दिलीप' से फिर बोले ॥ ८६ ॥

*किमब्रवीदित्याकाङ्क्षायां सफलमनोरथत्वे हेतुं प्रदर्शयन्नाह—

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः ।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥ ८७ ॥

सञ्जी०—अदूरवर्तिनीमिति । हे राजन् ! आत्मनः कार्यस्य सिद्धिमदूरवर्त्तिनीं शीघ्रभाविनीं विगणय विद्धि । यद्यस्मात्कारणात्कल्याणी मङ्गलमूर्तिः । 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीप् । इयं धेनुर्नाम्नि कीर्तिते कथिते सत्येवोपस्थिता ॥

अ०—राजन् ! आत्मनः, सिद्धिम्, अदूरवर्त्तिनीं, विगणय, यत्, कल्याणी, इयं नाम्नि, कीर्त्तिते, 'सति' एव, उपस्थिता ॥ वा०—हे राजन् ! (त्वया) आत्मनः सिद्धिरदूरवर्त्तिनी विगण्यतां, यत् कल्याण्याऽनया नाम्नि कीर्त्तित एवोपस्थितयाऽभूयत ॥

सुधा—हे राजन् ! हे नृप ! हे दिलीप ! इति यावद् । आत्मनः=प्रयत्नस्य, पुत्र-

प्राप्तिरूपस्येति यावत्। सिद्धिं=निष्पत्तिं फलस्येति शेषः। अदूरवर्त्तिनीं=समीपस्थायिनीं, स्वल्पकालभाविनीमिति यावद्। विगणय=अवेहि, यद्=यस्मात्करणात्, कल्याणी=मङ्गलमूर्तिः, कल्याणकारिणीति भावः। इयं=पुरोवर्त्तिनी, नन्दिनीति यावद्। नाम्नि=स्वकीयनन्दिनीत्यभिधाने, कीर्त्तिते=उच्चारिते, सति' इति शेषः। एव=अवधारणे, तत्काल एव न तु विलम्बादिति भावः। उपस्थिता=उपागता॥

स०—न दूरमदूरं तस्मिन्नदूरे अदूरे वर्त्तितुं शीलमस्याः साऽदूरवर्त्तिनी तामदूरवर्त्तिनीम्। नम्यतेऽभिधीयतेऽर्थोऽनेनेति नाम तस्मिन् नाम्नि।

को०—'राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः' इत्यमरः। 'आख्याऽऽह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः। 'यत्तद्यतस्ततो हेतौ' इत्यमरः।

ता०—हे राजन्! त्वमात्मनोऽभीष्टसिद्धिं शीघ्रभाविनीं विद्धि यतो नामसङ्कीर्त्तन क्षण एव तव मङ्गलमूर्त्तिरियं धेनुरकस्मादुपागता॥

इन्दुः—हे महाराज! आप अपने पुत्रप्राप्ति रूप कार्य की सिद्धि को निकट आई हुई समझें। क्योंकि यह (सामने आती हुई) कल्याणमूर्त्ति नन्दिनी नाम लेते ही उपस्थित हुई॥ ८७॥

*पुत्रप्राप्त्यर्थं नन्दिनीपरिचर्यामुपदिशन्नाह—

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम्।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि॥ ८८॥

सञ्जी०—वन्यवृत्तिरिति। वने भवं वन्यं कन्दमूलादिकं वृत्तिराहारो यस्य तथाभूतः सन्। इमां शश्वत्सदा। आ प्रसादादविच्छेदेनेत्यर्थः। आत्मनस्तव कर्तुः। अनुगमनेनानुसरणेन। अभ्यसनेनानुष्ठातुरभ्यासेन विद्यामिव प्रसादयितुं प्रसन्नां कर्तुमर्हसि।

अ०—वन्यवृत्तिः, (सन्) इमां, गां, शश्वद्, आत्मानुगमनेन, अभ्यसनेन, विद्याम्, इव, प्रसादयितुम्, अर्हसि॥ वा०—(त्वया) वन्यवृत्तिना (सता) शश्वदात्मानुगमनेनेयं गौरभ्यसनेन विद्येव प्रसादयितुमर्ह्यते॥

सुधा—वन्यवृत्तिः=अरण्योद्भवाजीवः, कन्दमूलादिभक्षणेन प्राणधारणं कुर्वाणः सन्नित्यर्थः। इमाम्=एनां सम्मुखस्थामित्यर्थः। गां=धेनुं, नन्दिनीमिति यावद्। शश्वद्=अभीक्ष्णं तत्प्रसादावधि प्रत्यहमविच्छेदेनेत्यर्थः। आत्मानुगमनेन=स्वकर्तृकानुसरणेन, अभ्यसनेन=पुनःपुनरुपस्थितिकरणेन, अनुष्ठातुरिति शेषः। विद्यां=न्यायादिशास्त्रज्ञानम्, इव=यथा, प्रसादयितुं=सन्तोषयितुं, सन्तुष्टां कर्तुमिति यावद्। अर्हसि=योग्योऽसि॥ ८८॥

स०—वने साधु वन्यं वनोद्भवं कन्दमूलादिकं वृत्तिर्भोजनं यस्य स वन्यवृत्तिः (ब० व्री०)। आत्मनोऽनुगमनमात्मानुगमनं तेन आत्मानुगमनेन (त० पु०)। गच्छतीति गौस्तां गाम् (स्त्री०)। विदन्त्यनया विद्या तां विद्याम् (स्त्री०)॥

को०—'मुहुः पुनःपुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत् समाः' इत्यमरः । 'आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे । परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः । स्वभावे' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः ।

ता०—प्रतिदिनमभ्यसनेन यथा जनो विद्यां तोषयितुं समर्थो भवति तथैव त्वमपि कन्दमूलादिकं वनोद्भूतं भक्षयित्वा मुनिवृत्तिः सन् यावन्न प्रसन्ना भवति तावदात्मानुसरणेनेमां नन्दिनीं कामधेनुसुतां प्रसादयितुमुद्यतो भव ॥

इन्दुः—तुम वन में उत्पन्न हुये कन्दमूलादि खाकर निरन्तर इस गायके पीछे-पीछे चल करके, जैसे निरन्तर अभ्यास से विद्या प्रसन्न की जाती है उसी तरह से इसे प्रसन्न करने के लिये योग्य हो ॥ ८८ ॥

गवानुसरणप्रकारमाह—

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः ।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥ ८९ ॥

सञ्जी०—प्रस्थितायामिति । अस्यां नन्दिन्यां प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः प्रयाहि । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । स्थितायां निवृत्तगतिकायां स्थितिमाचरेः स्थितिं कुरु । तिष्ठेत्यर्थः । निषण्णायामुपविष्टायां निषीदोपविश । विध्यर्थे लोट् । पीतमम्भो यया तस्यां पीताम्भसि सत्यामपः पिबेः पिब ॥

अ०—अस्यां, प्रस्थितायां, (त्वम्) प्रतिष्ठेथाः, स्थितायां, स्थितिम् आचरेः, निषण्णायां निषीद, पीताम्भसि (सत्याम्) आपः, पिबेः ।

वा०—अस्यां प्रस्थितायां (त्वया) प्रतिष्ठीयेत, स्थितायां स्थितिराचर्येत, निषण्णायां निषद्यतां, पीताम्भसि (सत्याम्) अपः पीयेरन् ॥

सुधा—अस्याम्=एतस्यां, पुरःस्थितायां नन्दिन्यामिति यावत् । प्रस्थितायां= प्रयातायां, वन इति शेषः । सत्यामिति सर्वत्र योज्यम् । प्रतिष्ठेथाः=प्रयाहि, तदनु-प्रस्थितो भवेति भावः । अत्र सर्वत्र क्रियायाः कर्तुराक्षेपेण त्वमिति पदं योज्यम् । स्थितायां=प्रयाणमकुर्वाणायां, सत्यां, स्थितिमाचरेः=गमननिरोधं कुरु, तिष्ठेत्यर्थः । स्वस्येति शेषः । निषण्णायाम्=उपविष्टायां, सत्यां, भूमाविति शेषः । निषीद=उप-विश, पीताम्भसि=आचमितजलायां, कृतजलपानायामित्यर्थः । सत्याम्, अपः=जलं पिबेः=आचम, पानं कुरुष्वेत्यर्थः । त्वमस्याश्छायावदनुसरणं कुरुष्वेति भावः ॥

स०—आप्नोति आप्यते वा अम्भः पीतमम्भो यया सा पीताम्भस्तस्यां पीताम्भसि । आप्नुवन्ति, आप्यन्ते वेति, आपस्ता अपः ।

को०—'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्' इति । 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्' इति चामरः ।

ता०—हे राजन् ! त्वमस्याश्छायावत् परिचर्यां कुरु, तद् यथा—एषा यदा गन्तु-मुद्यता सती प्रयाणं करोतु तदैव त्वमपि तदनु प्रयाणं कुरु । यदा च क्वचित् स्थिता

भवतु चेत् तदा त्वमपि तावत् स्थितो भव। यदा च क्वचिदुपविष्टा स्यात् तदा त्वमपि तत्रैव समुपविश। यदा च तृषाऽऽर्त्ता क्वचित् सलिलं पिबतु तदैव त्वमपि सलिलं पिब। न तु, तृषाऽऽर्त्तोऽपि कदाचित् ततः प्राग् जलं पिब॥

इन्दुः—हे राजन्! इस (नन्दिनी) के चलने पर तुम (इसके पीछे २) चलो, ठहरने पर ठहरो, बैठने पर बैठो और पानी पीने पर पानी पीओ॥ ८९॥

*साम्प्रतं नन्दिनीपरिचर्यायां सुदक्षिणयाऽनुष्ठास्यमानं कर्म ब्रुवन्नाह—

वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामा तपोवनात्।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि॥ ९०॥

सञ्जी०—वधूर्जाया च भक्तिमती गन्धादिभिरर्चितामेनां प्रातरा तपोवनात्। आङ्मर्यादायाम्। पदद्वयं चैतत्। अन्वेत्वनुगच्छतु। सायमपि प्रत्युद्व्रजेत्प्रत्युद्गच्छेत्। विध्यर्थे लिङ्॥

अ०—वधूः भक्तिमती, प्रयता च, (सती), अर्चिताम्, एनाम्, प्रातः, आ, तपोवनाद्, अन्वेतु, सायम्, अपि, प्रत्युद्व्रजेद्। वा०—वध्वा च भक्तिमत्या प्रयतया 'सत्या' अर्चितया प्रातरा तपोवनादन्वीयतां सायमपि प्रत्युद्व्रज्येत॥

सुधा—वधूः = स्नुषा, शिष्यपत्न्यां पुत्रवधूवद्व्यवहारात् सुदक्षिणेत्यर्थो बोध्यः भक्तिमती = श्रद्धावती। प्रयता = पवित्रा, बाह्याभ्यन्तरशुद्धियुक्तेत्यर्थः। च = अपि, समुच्चयार्थकश्चशब्दोऽत्र बोध्यः। सतीति शेषः। अर्चिताम् = पूजितां, गन्धपुष्पादिभिरिति शेषः। एनां=पूर्वोक्तां, नन्दिनीमिति यावत्। प्रातः = प्रभाते, काल इति शेषः। आ तपोवनात्=आ तपोवनम्, मर्यादायामाङो योगे पञ्चमीविधानाद् वशिष्ठमहर्षेस्तपोवनसीमापर्यन्तमित्यर्थो ज्ञेयः। अन्वेतु=अनुयातु। नन्दिन्याः पश्चाद्गमनं करोत्विति भावः। सायं=सन्ध्यासमये। अपि=अन्वाचयार्थकोऽपिः। प्रत्युद्व्रजेत् = प्रत्युद्यायात्, प्रातर्वनगमनसमये नन्दिन्या अनुगमनं तपोवनसीमाप्रदेशपर्यन्तं करोतु, सायमागमनसमये तपोवनसीमाप्रदेशं गत्वा तदीयं स्वागतं करोत्विति भावः॥

स०—तपनं, तप्यतेऽनेन वेति तपः, वनतीति वनं तपसे वनं तपोवनं तस्मात् तपोवनात्॥

को०—'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः। 'भक्तिः सेवागौणवृत्त्योर्भङ्ग्यां श्रद्धाविभागयोः' इत्यनेकार्थसंङ्ग्रहः। 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमाऽर्थे धातुयोगजे' इत्यमरः।

ता०—वधूः सुदक्षिणाऽपि श्रद्धासमन्विता, बाह्याभ्यन्तरशुद्धिमती सती यथाऽधिगतगन्धादिभिः पूजोपकरणैः पूजितामेनां नन्दिनीं प्रातःकाले तपोवनसीमापर्यन्तमन्वेतु, सायङ्कालेऽपि वनात् तदागमनसमय तपोवनसीमाप्रदेशे स्वागतार्थं स्थिता सती चैनामभिनन्द्य स्वाश्रममानयतु।

इन्दुः—और वधू 'सुदक्षिणा' भक्ति 'श्रद्धा' से युक्त पवित्र मन होकर 'गन्धादिकों से 'पूजित इस नन्दिनी के पीछे-पीछे प्रातःकाल तपोवन की सीमा तक 'वन में पहुँचाने के लिए' जावे, और सायङ्काल भी तपोवन की सीमा पर जाकर इसका स्वागत करे ॥ ९० ॥

*नन्दिनीपरिचर्याऽवधिं निर्दिशन्नाह—

इत्या प्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥ ९१ ॥

सञ्जी०—इतीति । इत्यनेन प्रकारेण त्वमा प्रसादात्प्रसादपर्यन्तम् । 'आङ्मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यस्य वैभाषिकत्वादसमासत्वम् । अस्या धेनोः परिचर्यापरः शुश्रूषापरो भव । ते तवाविघ्नं विघ्नस्याभावोऽस्तु । 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्ध्यर्थाभाव०' इत्यादिनाऽर्थाभावेऽव्ययीभावः । पितेव पुत्रिणां सत्पुत्रवताम् । प्रशंसायामिनिप्रत्ययः । धुर्यग्रे स्थेयास्तिष्ठेः । आशीरर्थे लिङ् । 'एर्लिङि' इत्याकारस्यैकारादेशः । त्वत्सदृशो भवत्पुत्रोऽस्त्विति भावः ॥

अ०—इति, त्वम्, आ, प्रसादाद्, अस्याः, परिचर्यापरः, भव, ते, अविघ्नम्, अस्तु, पिता, इव, पुत्रिणां, धुरि, स्थेयाः । वा०—इति त्वया, आ प्रसादादस्याः परिचर्यापरेण भूयतां; तेऽविघ्नेन भूयताम्, पुत्रिणां धुरि पित्रेव स्थीयताम् ।

सुधा—इति—इत्थम् अमुना प्रकारेणेत्यर्थः । त्वम्=भवान्, आ प्रसादाद्=प्रसादपर्यन्तं, यावन्न प्रसन्ना भूत्वा पुत्राप्तिरूपं वरं प्रयच्छेत् तावदिति भावः । अस्याः=नन्दिन्याः, कामधेनुसुताया इति यावत् । परिचर्यापरः=उपासनातत्परः, भव=भवेः, ते=तव, अविघ्नं=विघ्नाभावः, अस्तु=स्यात्, पिता=जनकः, इव=यथा, पुत्रिणां=सत्सुतवतां, धुरि=यानमुखे, अग्र, इति भावः । स्थेयाः=तिष्ठताद्, अस्याः प्रसादाप्तिपर्यन्तं त्वं पूर्वोक्तप्रकारेणेमां प्रेमतः परिचर, तथा तव धेनुपरिचर्याऽवसरे विघ्नानामनुत्पत्तिरस्तु, अपि च, यथा तव पिता त्वादृशं सुतमवाप्य सत्पुत्रवतां श्लाघ्योऽभूत् तथैव त्वमपि, स्वसदृशं सूनुमवाप्नुहि-इति मदीया आशिषः सन्तीति भावः ।

स०—पुनन्ति पूयन्ते वा पुत्राः । प्रशस्ताः पुत्राः सन्त्येषामिति पुत्रिणस्तेषां पुत्रिणाम् ।

को०—'प्रसादस्तु प्रसन्नता' इति । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमाऽर्थे धातुयोगजे' इति । 'वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याऽप्युपासना' इति चामरः ।

ता०—इत्युक्तप्रकारेण त्वमस्या नन्दिन्याः प्रसन्नतावाप्तिपर्यन्तं शुश्रूषां कुरु, तव परिचर्याकरणकाले विघ्ननाशो भवतु, आत्मतुल्यसत्पुत्रशाली भव ।

इन्दुः—इस प्रकार से तुमसे जब तक यह नन्दिनी प्रसन्न न होवे, तब तक इसकी सेवा करने में तत्पर रहो, 'तुम्हारे विघ्नों का अभाव रहे (अर्थात् तुम्हें विघ्नों का सामना न करना पड़े), पिता के समान तुम भी अच्छे पुत्रवालों में मुख्य होओ (अर्थात् तुम्हे अपने समान पुत्र प्राप्त हो) ॥ ९१ ॥

&राज्ञो दिलीपस्य सप्रेम गुरोराज्ञाग्रहणमाह—

तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥ ९२ ॥

स०—तथेतीति। देशकालज्ञः। देशोऽग्निसन्निधिः, कालोऽग्निहोत्रावसानसमयः। विशिष्टदेशकालोत्पन्नमार्षज्ञानमव्याहतमिति जानन् अत एव प्रीतिमाञ्शिष्योऽन्तेवासी राजा सपरिग्रहः सपत्नीकः। 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः। आनतो विनयनम्रः सन् शासितुर्गुरोरादेशमाज्ञां तथेति प्रतिजग्राह स्वीचकार।

अ०—देशकालज्ञः, 'अत एव' प्रीतिमान्, शिष्यः सपरिग्रहः आनतः, 'सन्' शासितुः, आदेशं, तथा, इति, प्रतिजग्राह। वा०—देशकालज्ञेन 'अत एव' प्रीतिमता शिष्येण सपरिग्रहेणानतेन 'सता' शासितुरादेशस्तथेति प्रतिजगृहे।

सुधा—देशकालज्ञः=वह्निसन्निध्यग्निहोत्रान्तसमयाभिज्ञः; अग्निसन्निधौ तथाऽग्निहोत्रावसानसमये ब्रह्मपुत्रेण महर्षिणा वशिष्ठेन प्रोक्तं 'तव पुत्रो भविष्यति' इत्याकारकं वचनं श्रुत्वा जातविश्वास इति भावः। 'अत एव' प्रीतिमान्=हर्षयुक्तः अवश्यं भाविपुत्रोत्पत्त्या प्रहृष्टचित्त इति भावः। शिष्यः=छात्रः, दिलीप इति यावत्। सपरिग्रहः=सपत्नीकः, सुदक्षिणासहित इत्यर्थः। आनतः=विनयावनतः, सन्निति शेषः। शासितुः=शासनकर्तुः, गुरोर्वशिष्ठस्येति यावद्। आदेशम्=आज्ञां, 'नन्दिनीपरिचर्यां सपत्नीकस्त्वं सादरं कुरु' इत्यात्मकमिति भावः। तथेति=तेन प्रकारेणैवास्तु तवादेशपालनमिति, उक्त्वेति शेषः। प्रतिजग्राह=अङ्गीचकार, स्वीकृतवानित्यर्थः।

स०—देशश्च कालश्चेति देशकालौ तौ जानातीति देशकालज्ञः।

को०—'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदाः' इति। 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इति। 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमरः।

ता०—अग्निसन्निधिरिति देशस्य तथाऽग्निहोत्रावसानमिति समयस्य च ज्ञाता, अर्थादित्थंभूते देशे काले च महर्षिणोक्तं वचनं पुत्रप्राप्तिर्भविष्यतीत्याकारकं कदाऽपि मृषा न भविष्यत्यत एव प्रसन्नः सुदक्षिणासहितो दिलीपो विनयावनतकन्धरः सन् निजगुरोर्नन्दिनीपरिचर्याकरणरूपामाज्ञां 'यथा भवदीयाऽऽज्ञा तथैव करिष्ये' इत्युक्त्वा स्वीचकार।

इन्दुः—देश और काल के जाननेवाले अत एव प्रसन्न शिष्य राजा दिलीप ने पत्नी 'सुदक्षिणा' के सहित विनय से नम्र 'होते हुए' उपदेश करने वाले गुरु की आज्ञा को 'वैसा ही हो' यह कह कर स्वीकार किया॥ ९२ ॥

&अथ रात्रिकालं विज्ञाय दिलीपशयनार्थं वशिष्ठानुशासनमाह—

अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम्।
सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥ ९३ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथ प्रदोषे रात्रौ दोषज्ञो विद्वान् । 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः । सूनृतवाक् सत्यप्रियवाक् । 'प्रियं सत्यं च सूनृतम्' इति हलायुधः । स्रष्टुः सूनुर्ब्रह्मपुत्रो मुनिः । अनेन प्रकृतकार्यनिर्वाहकत्वं सूचयति । ऊर्जितश्रियं । विशांपतिं मनुजेश्वरम् । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । संवेशाय निद्रायै । 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इत्यमरः । विससर्जाज्ञापयामास ।

अ०—अथ, प्रदोषे, दोषज्ञः, सूनृतवाक्, स्रष्टुः, सूनुः, ऊर्जितश्रियं, विशांपतिं, संवेशाय विससर्ज । वा०—अथ प्रदोपे दोषज्ञेन सूनृतवाचा स्रष्टुः सूनुनोर्जितश्रीर्विशांपतिः संवेशाय विससृजे ।

सुधा—अथ=अनन्तरं, तथाऽस्त्वित्युक्त्या गुरोराज्ञाग्रहणानन्तरमिति भावः । ज्ञानवान् सर्वज्ञ इति यावत् । सूनृतवाक्=प्रियसत्यवचनः, स्रष्टुः=प्रजापतेः, ब्रह्मण इति यावत् । सूनुः=पुत्रः, मानसपुत्रो वशिष्ठ इत्यर्थः । ऊर्जितश्रियं=प्रवृद्धशोभं, पुत्रप्राप्त्युपायाकर्णनेन प्रसन्नवदनमिति भावः । विशांपतिं=मनुजानां स्वामिनं, राजानं दिलीपमित्यर्थः । संवेशाय=स्वापार्थं, विससर्ज=व्यसृजत्, निद्रायै समादिशदित्यर्थः ।

स०—सूनृता वाग्यस्य स सूनृतवाक्, ऊर्जिता श्रीर्यस्य स ऊर्जितश्रीस्तमूर्जितश्रियम् ।

को०—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इति । 'प्रदोषो रजनीमुखम्' इति । 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इति । 'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियान्त्वमी' इति सर्वत्राप्यमरः ।

ता०—तथाऽस्त्वित्युक्त्वा पुत्राप्तिकामनया नन्दिनीपरिचर्याऽऽत्मकवशिष्ठमुनिनिर्देशग्रहणानन्तरं रात्रेः प्रथमप्रहरे सर्वज्ञः सत्यप्रियभाषणशीलो ब्रह्मणो मानसपुत्रो वशिष्ठो राजानं दिलीपं शयनार्थमादिदेश ॥

इन्दुः—उसके (गुरु वशिष्ठ की आज्ञा ग्रहण करने के) बाद रात्रि के प्रथम प्रहर होने पर (प्रत्येक विषय के) दोषों को जाननेवाले (सर्वज्ञ) तथा सत्य और प्रियभाषी ब्रह्मा के (मानस) पुत्र (वशिष्ठ ऋषि) ने राजा दिलीप को सोने के लिए आज्ञा दी ॥ ९३ ॥

*महार्षेर्वशिष्ठस्य दिलीपाय मुनिजनार्हसामग्रीसम्पादनमाह—

सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः ।
कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥ ९४ ॥

सञ्जी०—सत्यामिति । कल्पविद् व्रतप्रयोगाभिज्ञो मुनिः । तपःसिद्धौ सत्यामपि । तपसैव राजयोग्याहारसंपादनसामर्थ्ये सत्यपीत्यर्थः । नियमापेक्षया तद्व्रतप्रभृत्येव व्रतचर्यापेक्षया । अस्य राज्ञो वन्यामेव । संविधीयतेऽनयेति संविधाम् । कुशादिशयनसामग्रीम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति

कर्माद्यर्थत्वम् । कल्पयामास संपादयामास ॥

अ०—कल्पविद्, मुनिः, तपःसिद्धौ, सत्याम्, अपि, नियमापेक्षया, अस्य, वन्याम, एव, संविधां, कल्पयामास ॥' वा०—कल्पविदा मुनिना तपःसिद्धौ सत्यामपि नियमापेक्षयाऽस्य वन्यैव संविधा कल्पयाञ्चक्रे ॥

सुधा—कल्पविद्=व्रतप्रयोगविज्ञः, मुनिः=वाचंयमः, वशिष्ठ इति यावत् । तपःसिद्धौ=कृच्छ्रादिकर्मजन्याणिमाद्यैश्वर्ये, सत्यामपि=विद्यमानायामपि, कृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रताचरणेन राजोचितभोजनसामग्रीसम्पादनसामर्थ्ये सत्यपीत्यर्थः । नियमापेक्षया=व्रतचर्यापेक्षया, तदारभ्यैत्येव नन्दिनीपरिचर्याऽऽत्मकव्रतचर्यापेक्षयेत्यर्थः । अस्य = राज्ञः, दिलीपस्येति भावः । वन्यां = वनोद्भवाम्, एव = अवधारणे, संविधां कुशादिशयनसामग्रीं, कल्पयामास=सम्पादयामास । अस्मिन् सर्गे प्रारम्भत एतावच्छ्लोकावधि सर्वत्रानुष्टुप्छन्द इव, तल्लक्षणं यथा—'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् । द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः' इति ॥

स०—नियमनं नियमः तस्यापेक्षा नियमापेक्षा तया नियमापेक्षया । सम्यक प्रकारेण विधीयतेऽनयेति संविधाम् ॥

को०—सन् साधौ धीरशस्तयोः । मान्ये सत्ये विद्यमाने त्रिषु साध्व्युमयाः स्त्रियाम्' इति मेदिनी । 'तपः कृच्छ्रादि कर्म च' इत्यमरः । 'सिद्धिस्तु, मोक्षे निष्पत्तियोगयोः' इति हैमः ।

ता०—व्रतप्रयोगकुशलो महर्षिर्वशिष्ठस्तपश्चर्योपात्तसिद्ध्या राजोचिताहारादिसामग्रीसम्पादनसामर्थ्ये सत्यपि नन्दिनीपरिचर्याऽऽत्मकव्रतचर्यापेक्षयाऽस्य दिलीपस्य वनवासिजनसुलभकुशादिशयनसामग्रीमेव सम्पादयामास ॥

इन्दुः—व्रत के प्रयोग के जाननेवाले मुनि 'वशिष्ठजी' ने तप की सिद्धि 'राजाओं के उपभोगयोग्य सामग्री सम्पादन करने का सामर्थ्य' रहते हुए भी नन्दिनी की सेवारूप व्रत का विचार कर के इन 'राजा दिलीप' के लिये वन में उत्पन्न हुए 'वनवासियों के उपभोग करने के योग्य' सामग्री का प्रबन्ध किया ॥ ९४ ॥

ॐवशिष्ठाज्ञया पर्णशालायां पत्न्या सह प्रसुप्तस्य दिलीपस्य ब्राह्ममुहूर्त्ते निद्रात्यागमाह—

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला-
मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां
संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥ ९५ ॥

सञ्जी०—निर्दिष्टमिति । स राजा कुलपतिना मुनिकुलेश्वरेण वशिष्ठेन निर्दिष्टां पर्णशालामध्यास्याधिष्ठाय । तस्यामधिष्ठानं कुर्वन्नित्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म'

इत्यनेनाधारस्य कर्मत्वम् । कर्मणि द्वितीया । प्रयतो नियतः परिग्रहः पत्नी द्वितीयो यस्येति स तथोक्तः । कुशानां शयने संविष्टः सुप्तः सन् । तस्य वशिष्ठस्य शिष्याणामध्ययनेनापररात्रे वेदपाठेन निवेदितमवसानं यस्यास्तां निशां निनाय गमयामास । अपररात्रेऽध्ययने मनुः—'निशान्ते न परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्'। 'न चापररात्रमधीत्य पुनः स्वपेद्' इति गौतमश्च । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ॥'

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये वशिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः ।

अ०—सः, कुलपतिना, निर्दिष्टां, पर्णशालाम्, अध्यास्य, प्रयतपरिग्रहद्वितीयः, कुशशयने, संविष्टः, 'सन्' तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां निशां निनाय ॥

वा०—तेन कुलपतिना निर्दिष्टां पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयेन कुशशयने निविष्टेन 'सता' तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसाना निशा निन्ये ॥

सुधा—सः = पूर्वोक्तः, राजा दिलीप इति यावत् । कुलपतिना = मुनिकुलप्रभुणा, वशिष्ठेनेत्यर्थः । निर्दिष्टाम् = आज्ञप्तां, पर्णशालाम् = पर्णकुटीं, पत्रादिनिर्मितगृहम्, अध्यास्य = अध्युष्य, तस्यामधिवासं कृत्वेत्यर्थः । प्रयतपरिग्रहद्वितीयः = पवित्रपत्नीसहायः, वंशादिना विशुद्धया भार्यया सुदक्षिणयाऽनुगम्यमान इति भावः । कुशशयने = दर्भशय्यायां, संविष्टः = सुप्तः 'सन्' इति शेषः । तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां=वशिष्ठछात्रवेदपाठज्ञापितान्तां, वशिष्ठमहर्षेश्छात्राणां वेदाध्ययनेन सूचितावसानामित्यर्थः । निशां=रजनीं, निनाय=यापयामास । अस्मिन् पद्ये प्रहर्षिणी वृत्तं तल्लक्षणं यथा श्रुतबोधे–'आद्यं चेत् त्रितयमथाष्टमं नवान्त्यं सोपान्त्यं गुरु विरतौ सुभाषिते स्यात् । विश्रामो भवति महेशनेत्रदिग्भिर्विज्ञेया ननु सुभगे प्रहर्षिणी सा' इति ॥

स०—प्रयतः परिग्रहो द्वितीयो यस्य स प्रयतपरिग्रहद्वितीयः । शासितुं योग्याः शिष्याः तस्य शिष्यास्तच्छिष्याः तेषामध्ययनं तच्छिष्याध्ययनम् तच्छिष्याध्ययनेन निवेदितं तच्छिष्याध्ययननिवेदितम् तच्छिष्याध्ययननिवेदितमवसानं यस्याः सा तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसाना तां तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानाम्, शेतेऽस्मिन्निति शयनं कुशानां शयनं कुशशयनं तस्मिन् कुशशयने ।

को०—'कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च । भवने च तनौ क्लीबम्' इति मेदिनी । 'सजातीयैः कुलम्' इति चामरः । 'स्वामी, त्वीश्वरः पतिरीशिता । अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इत्यमरः ।

ता०—स राजा दिलीपः कुलपतिना 'सजातीयमुनिगणस्वामिना वशिष्ठेनादि-

ष्टायां पर्णशालायामधिवासं कृत्वा वंशचरित्रादिना शुद्धया पत्न्या सुदक्षिणया सह कुशनिर्मितशय्यायां सुप्तो वशिष्ठछात्राणां श्रुतेरध्ययनेन संसूचिततुर्ययामां रात्रिं यापयामास।

इन्दु—उन राजा दिलीप ने कुलपति 'दश सहस्र मुनियों को अन्नादि देकर वेद पढ़ाने वाले ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी' की बताई हुई पर्णकुटी 'पत्तों से बनी हुई कुटी' में निवास करके 'वंश आदि से' शुद्ध धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ कुशों से बनी हुई शय्या पर सोये हुए, वशिष्ठजी के विद्यार्थियों के वेदाध्ययन करने से ज्ञात हो गया है प्रातःकाल का होना जिसका ऐसी रात को बिताया ॥ ९५ ॥

इत्थं श्रीब्रजमोहनात्मजनुषा गोस्वामिविद्वद्वर-
श्रीदामोदरशास्त्रिशिष्यपदवीभाजाऽच्युतानुग्रहाद् ।
श्रीब्रह्मान्वितशङ्करेण विहिता व्याख्या सुधाऽऽख्या नवा
पूर्तिं श्रीरघुवंशनामकमहाकाव्याद्यसर्गेऽध्यगात् ॥ १ ॥

इति श्रीब्रह्मशङ्करशर्मणा कृतया सुधाव्याख्ययाऽन्वितः; श्रीमहाकवि-
कालिदासकृतौ श्रीरघुवंशमहाकाव्ये दिलीपस्य वशिष्ठा-
श्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः समाप्तः ।

॥ श्रीः ॥

रघुवंशमहाकाव्यम्

द्वितीयः सर्गः

आशासु राशीभवदङ्गवल्लीभासैव दासीकृतदुग्धसिन्धुम् ।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि ! त्वाम् ॥

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥

सञ्जीविनी—अथेति । अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेश्वरः भाते प्रातःकाले जायया सुदक्षिणया प्रतिग्राहयित्र्या प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्ध- ाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या, तां तथोक्ताम् । पीतं पानमस्यास्तीति ीतः पीतवानित्यर्थः । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । 'पीता गावो भुक्ता ाह्मणाः' इति महाभाष्ये दर्शनात् । पीतः प्रतिबद्धो वत्सो यस्यास्तामृषेर्धेनुं वनाय नं गन्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी । मुमोच मुक्त- ान् । जायापदसामर्थ्यात्सुदक्षिणायाः पुत्रजननयोग्यत्वमनुसन्धेयम् । तथा हि ुतिः-(पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे ासि जायते । तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥) इति । यशोधन त्यनेन पुत्रवत्ताकीर्तिलोभाद्राजानर्हे गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते । अस्मिन्सर्गे वृत्त- ुपजातिः—(अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः) ।

अन्वयः—अथ, यशोधनः, प्रजानाम्, अधिपः, प्रभाते, जायाप्रतिग्राहितगन्ध- ाल्याम्, पीतप्रतिबद्धवत्साम्, ऋषेः, धेनुं, वनाय, मुमोच । वा०—यशोधनेन ाजानामधिपेन जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या पीतप्रतिबद्धवत्सा ऋषेर्धेनुर्मुमुचे ।

सुधा—अथ = रात्र्यपगमानन्तरं, यशोधनः = कीर्त्तिवित्तः, प्रजानां = जनानाम्, ाधिपः = प्रभुः, दिलीप इत्यर्थः । प्रभाते = प्रत्यूषे, जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् = ार्यासुदक्षिणास्वीकारितचन्दनपुष्पमालाम् , पीतप्रतिबद्धवत्सां = पयःपानानन्तर-

निवद्धतर्णकाम्, ऋषेः = सत्यवचसः, वशिष्ठस्येत्यर्थः। धेनुं = नवसूतिकां गां नन्दिनीम्, वनाय = वनं गन्तुं, मुमोच = मुक्तवान्।

समासादि—यश एव धनं यस्यासौ यशोधनः। प्रकर्षेण जायन्त इति प्रजास्तासां प्रजानाम्। अध्यधिकं पातीत्यधिपः। भातुं प्रवृत्तम् प्रभातं तस्मिन् प्रभाते। गन्धश्च माल्यञ्च गन्धमाल्ये, जायतेऽस्यामिति जाया तया प्रतिग्राहिते जायाप्रतिग्राहिते, जाताप्रतिग्राहिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या तां जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्। पीतं पानमस्यास्तीति पीतः पूर्वं पीतः पश्चात् प्रतिवद्धः पीतप्रतिवद्धः पीतप्रतिबद्धो वत्सो यस्याः सा पीतप्रतिवद्धवत्सा तां पीतप्रतिबद्धवत्साम्। धीयते सुतैरिति धेनुस्तां धेनुम्।

कोषः—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्यैष्वथो अथ' इति। 'प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषःप्रत्युषसी अपि। प्रभातञ्च' इति। 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इति। 'प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इति। 'भार्या जायाऽथ पुम्भूम्नि दाराः स्याद्' इति। 'माल्यं मालास्रजौ मूर्ध्नि' इति। 'यशः कीर्त्तिः समज्ञा च' इति। 'धेनुः स्यान्नवसूतिका' इति चामरः।

तात्पर्यार्थः—अथ प्रभाते राजा दिलीपो राज्ञ्या सुदक्षिणया गन्धादिभिः स म्पूज्य वत्समपि यथेच्छं क्षीरं पाययित्वा ततस्तं बद्ध्वा च, वने विचरणार्थं वशिष्ठस्य धेनुं नन्दिनीनाम्नीममुचत्।

इन्दु :—रात के बीत जाने पर प्रातःकाल प्रजाओं के पालन करने वाले, यश को ही धन समझने वाले राजा दिलीप ने रानी सुदक्षिणा के द्वारा पूजन में प्राप्त चन्दन और पुष्पों की माला को धारण की हुई, दूध पी चुकने के बाद जिसका बछड़ा बांध दिया गया है, ऐसी ऋषि वशिष्ठ की नई व्याई हुई नन्दिनी नाम की गौ को जङ्गल में चरने के लिये खोल दिया ॥ १ ॥

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥

सञ्जी०—तस्या इति। पांसवो दोषा आसां सन्तीति पांसुलाः स्वैरिण्यः। 'स्वैरिणी पांसुला' इत्यमरः। 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः। अपांसुलानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे कीर्त्तनीया परिगणनीया। मनुष्येश्वरधर्मपत्नी। खुरन्यासैः पवित्राः पांसवो यस्य तम्। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः। तस्या धेनोर्मार्गम्। स्मृतिर्मन्वादिवाक्यं श्रुतेर्वेदवाक्यस्यार्थमभिधेयमिव अन्वगच्छदनुसृतवती च। यथा स्मृतिः श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा सीऽपि गोखुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः। धर्मपत्नीत्यत्राश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः प्रकृतिविकाराभावात्। पांसुलपथवृत्तावप्यपांसुलानामिति विरोधालङ्कारो ध्वन्यते।

अ०—अपांसुलानां, धुरि, कीर्त्तनीया, मनुष्येश्वरधर्मपत्नी, खुरन्यासपवित्रपांसुं,

तस्याः, मार्गं, स्मृतिः, श्रुतेः, अर्थम्, इव, अन्वगच्छत् । वा०—कीर्तनीयया मनुष्येश्वरधर्मपत्न्या खुरन्यासपवित्रपांसुर्मार्गः स्मृत्याऽर्थः इवान्वगम्यत ।

सुधा०—अपांसुलानाम् = अस्वैरिणीनाम् । धुरि = अग्रे, कीर्तनीया = परिसङ्ख्यानीया, मनुष्येश्वरधर्मपत्नी = नरपतिपाणिगृहीती, दिलीपपत्नी सुदक्षिणेत्यर्थः । खुरन्यासपवित्रपांसुम् = शफविक्षेपपूतरेणुं, तस्याः = वनं गच्छन्त्याः, नन्दिन्याः, मार्गं = पन्थानं, स्मृतिः = धर्मसंहिता, मन्वादिस्मृतिरिति यावद् । श्रुतेः = वेदस्य, अर्थम् = अभिधेयम्, इव = यथा, अन्वगच्छद् = अनुययौ ।

स०—खुराणां न्यासाः खुरन्यासास्तैः पवित्राः खुरन्यासपवित्राः खुरन्यासपवित्राः पांसवो यस्य स खुरन्यासपवित्रपांसुस्तम् खुरन्यासपवित्रपांसुम् । पांसवः पापानि सन्त्यासामिति पांसुलाः, न पांसुला इत्यपांसुलास्तासामपांसुलानाम् । धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी, मनुष्येष्वीश्वरो मनुष्येश्वरः तस्य धर्मपत्नी मनुष्येश्वरधर्मपत्नी ।

को०—'शफं क्लीबे खुरः पुमान्' इति । 'पवित्रः प्रयतः पूतः' इति । 'स्वैरिणी पांसुला च स्याद्' इति । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इति । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इति । 'स्मृतिस्तु धर्मसंहिता' इति सर्वत्राप्यमरः ।

ता०—सकलपतिव्रताग्रगण्या दिलीपपत्नी सुदक्षिणा यथा मन्वादिस्मृतिर्वेदवाक्यस्यार्थमनुसरति तथैव नन्दिनीखुरक्षुण्णमार्गमनुसृतवतीति भावः ।

इन्दुः—पतिव्रताओं में सर्वप्रथम राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा ने नन्दिनी के खुरों के रखने से पवित्र धूलि वाले मार्ग का उसी भाँति अनुसरण किया जैसे मन्वादि स्मृतियाँ वेद के अर्थों का अनुसरण करती हैं ॥ २ ॥

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥

सञ्जी०—निवर्त्येति । दयालुः कारुणिकः । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । 'स्पृहिगृहि०' इत्यादिनाऽऽलुच्प्रत्ययः । यशोभिः सुरभिर्मनोज्ञः । 'सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपि' इति विश्वः । राजा तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं कामधेनुसुतां नन्दिनीम् । धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । पयसां धराः पयोधराः स्तनाः । 'स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ' इत्यमरः । अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरीभूताः । अभूततद्भावे च्विः । 'कुगतिप्रादयः' इति समासः । पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्यास्ताम् । 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेकैदार्थग्रहणसामर्थ्यात्त्रिपदो बहुव्रीहिः । गोरूपधरामुर्वीमिव जुगोप ररक्ष । भूरक्षणप्रयत्नेनेव ररक्षेति भावः । धेनुपक्षे—पयसा दुग्धेनाधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा तथोक्ताम् । दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थः ।

अ०—दयालुः, यशोभिः, सुरभिः, राजा, तां, दयितां, निवर्त्य, सौरभेयीं, पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां, गोरूपधराम्, उर्वीम्, इव, जुगोप । वा०—दयालुना सुरभिणा राज्ञा सा सौरभेयी पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा गोरूपधरोर्वीव जुगुपे ।

सुधा—दयालुः = कारुणिकः, दीनजनरक्षकः। यशोभिः = कीर्तिभिः, सुरभिः = मनोज्ञः, राजा = नृपः, दिलीपः। तां = पूर्वोक्ताम्, अनुगामिनीमिति भावः। दयितां = वल्लभां, सुदक्षिणामित्यर्थः। निवर्त्य = परावर्त्य, सौरभेयीं = कामधेनुसुतां नन्दिनीम्, पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम् = ऊधोभूतोदधिचतुष्टयां, 'धेनुपक्षे' दुग्धतिरस्कृत चतुःसागरां, गोरूपधरां = गोमूर्त्तिं दधानाम्। उर्वीं = पृथ्वीम्, इव = यथा, जुगोप = पालयामास, पृथ्वीपालनसमेन प्रयत्नेन रक्षणतत्परोऽभूदिति भावः।

स०—निवर्तयित्वे स निवर्त्य। दयाशीलो दयालुः। सुरभेरपत्यं स्त्री सौरभेयी तां सौरभेयीम्। 'भूमिपक्षे' धरन्तीति धराः पयसां धराः पयोधराः अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरीभूताः पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा तां पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां 'गोपक्षे' अनधराः अधराः सम्पद्यमाना अधरीभूताः पयसाऽधरीभूता पयोऽधरीभूताः पयोऽधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा तां तथोक्ताम्। धरति या सा धरा, गोः रूपं गोरूपं गोरूपस्य धरा गोरूपधरा तां गोरूपधराम्।

को०—'दयितं वल्लभं प्रियम्' इति। 'माहेयी सौरभेयी गौः' इति। 'वसुधोर्वी वसुन्धरा' इति चामरः।

ता०—नृपो दिलीपः सुदक्षिणां तपोवनसीमाप्रदेशात्परावर्त्य क्षितेरिव अपि धेनोः पालने तत्परोऽभूत्।

इन्दुः—दया से युक्त कीर्त्ति से सुशोभित राजा दिलीप प्यारी पटरानी सुदक्षिणा को लौटा कर जिसके दूध से चारो समुद्र तिरस्कृत हैं ऐसी उस नन्दिनी को, चार समुद्रों को चार स्तनों के रूप में धारण की हुई गौ के रूप में उपस्थित पृथ्वी की भांति रक्षा करने लगे ॥ ३ ॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥

सञ्जी०—व्रतायेति। व्रताय धेनोरनुचरेण न तु जीवनायेति भावः। तेन दिलीपेन शेषोऽवशिष्टोऽप्यनुयायिवर्गोऽनुचरवर्गो न्यषेधि निवर्तितः। शेषत्वं सुदक्षिणाऽपेक्षया। कथं तर्ह्यात्मरक्षणमत आह—न चेति। तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा चान्यतः पुरुषान्तराच्च। कुतः। हि यस्मात्कारणान्मनोः प्रसूयत इति प्रसूतिः सन्ततिः स्ववीर्यगुप्ता स्ववीर्येणैव रक्षिता। न हि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः।

अ०—व्रताय, धेनोः, अनुचरेण, तेन, शेषः अपि, अनुयायिवर्गः, न्यषेधि, तस्य शरीररक्षा, च अन्यतः, न, हि, मनोः, प्रसूतिः स्ववीर्यगुप्ता, भवति। वा०—अनुचरः स शेषमप्यनुयायिवर्गं न्यषेधीत् शरीररक्षया प्रसूत्या स्ववीर्यगुप्तया 'भूयते'।

सुधा—व्रताय = नियमाय, धेनोः = गोः, नन्दिन्याः। अनुचरेण=सेवकेन, तेन=

दिलीपेन, शेषः=अवशिष्टः, अपि=समुच्चये, अनुयायिवर्गः=अनुचरसङ्घः, न्यषेधि= निवर्त्तितः। तस्य=पूर्वोक्तस्य, दिलीपस्येति यावत्। शरीररक्षा=गात्ररक्षणं, च= अन्वाचये, अन्यतः=अन्यस्मात्, पुरुषान्तरादिति यावत्। न=नहि, अभवत्तीति शेषः। हि=यतः, मनोः=वैवस्वताख्यमनोः, प्रसूतिः=सन्ततिः, मनुवंशोद्भवरा- जवृन्दमिति भावः। स्ववीर्यगुप्ता=आत्मपराक्रमरक्षिता, भवतीति शेषः।

स०—अनु पश्चाच्चरतीत्यनुचरः तेनानुचरेण। अनु पश्चाद् यातुं शीलं येषान्तेऽ- नुयायिनः, तेषां वर्गोऽनुयायिवर्गः। शरीरस्य रक्षा शरीररक्षा। प्रसूयत इति प्रसूतिः। स्वस्य वीर्यं स्ववीर्यं तेन गुप्ता स्ववीर्यगुप्ता।

को०—'नियमो व्रतमस्त्री' इति। 'अनुप्लवः सहायश्चानुचरोऽभिसरः समाः' इति चामरः। 'धेनुर्गोमात्रके दोग्ध्र्याम्' इति। 'वीर्यं प्रभावे शुक्रे च तेजःसामर्थ्य- योरपि' इति मे०। 'प्रसूतिः प्रसवोत्पत्तिपुत्रेषु दुहितर्यपि' इत्यनेका०।

ता०—स्वयमेव कर्त्तव्यमुचितमिति कृत्वा राजा दिलीपः स्वानुचरवृन्दं न्यषे- धीत्। अपि च मनुवंश्यानां राज्ञां स्वशरीररक्षणे नान्यस्य साहाय्यमपेक्षितं भवति सामर्थ्यात्।

इन्दुः०—गोसेवाव्रत पालन करने के लिये सेवक की भाँति पीछे-पीछे चलने वाले उन 'राजा दिलीप' ने 'सुदक्षिणा' लौटाने के बाद बचे हुए अनुचर वर्ग- को भी पीछे-पीछे आने से रोका। उनको शरीर की रक्षा करने के लिये भी दूसरे पुरुष की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि 'वैवस्वत' मनु के वंश में उत्पन्न राजा लोग अपने ही पराक्रम से आत्मरक्षा कर लेते थे॥ ४॥

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्॥५॥

सञ्जी०—आस्वादवद्भिरिति। सम्राण्मण्डलेश्वरः। 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्ये- श्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः। स राजा आस्वादवद्भिः रसवद्भिः स्वादुयुक्तैरित्यर्थः। तृणानां कवलैर्ग्रासैः 'ग्रासस्तु कवलः पुमान्' इत्य- मरः। कण्डूयनैः खर्जनैः। दंशानां वनमक्षिकाणां निवारणैः। 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमरः। अव्याहतैरप्रतिहतैः स्वैरगतैः स्वच्छन्दगमनैश्च। तस्या धेन्वाः समारा- धनतत्परः शुश्रूषाऽऽसक्तोऽभूत्। तदेव परं प्रधानं यस्येति तत्परः। 'तत्परे प्रसिता- सक्तौ' इत्यमरः।

अ०—सम्राट्, सः, आस्वादवद्भिः, तृणानां कवलैः, कण्डूयनैः दंशनिवारणैः, अव्याहतैः, स्वैरगतैः च, तस्याः, समाराधनतत्परः, अभूत्।

वा०—सम्राजा तेन समाराधनतत्परेणाभावि।

सुधा—सम्राट्=मण्डलेश्वरः, सः=दिलीपः। आस्वादवद्भिः=रसवद्भिः, स्वाद- युक्तैः। तृणानाम्=घासानाम्। कवलैः=ग्रासैः, कण्डूयनैः=खर्जनैः,

गात्रस्येति शेषः । दंशनिवारणैः=वनमक्षिकाऽपसारणैः, अव्याहतैः=अप्रतिहतैः, स्वैरगतैः=स्वच्छन्दगमनैः, च=समुच्चयार्थे, तस्याः=नन्दिन्याः, समाराधनतत्परः= सन्तोषणासक्तः, अभूत्=बभूव ।

स०—आस्वादनमास्वादः, स विद्यते येषु, ते आस्वादवन्तस्तैरास्वादवद्भिः। कण्डूयन्ते इति कण्डूयनानि तैः कण्डूयनैः। दंशानां निवारणानि दंशनिवारणानि तैः दंशनिवारणैः। न व्याहतानीत्यव्याहतानि तैरव्याहतैः। स्वैरेण गतानि स्वैरगतानि तैः स्वैरगतैः। सम्यक् प्रकारेण राजतीति सम्राट्। सम्यगाराधनं समाराधनं तत्र तत्परः समाराधनतत्परः।

को०—'स्वैरः स्वच्छन्दमन्दयोः' इति। 'आराधनं साधने स्यादवाप्तौ तोषणेऽपि च' इति चामरः।

ता०—चक्रवर्ती राजा दिलीपः स्वहस्तोपनीतानां सुस्वादुकोमलतृणानां ग्रासप्रदानेन, गात्रखर्जनैर्वनमक्षिकाऽपवारणेन, निरर्गलस्वच्छन्दगमनेन च तस्यास्तोषणासक्तो बभूव।

इन्दुः—चक्रवर्ती वे राजा दिलीप स्वादयुक्त कोमल तृणों के ग्रासों से, शरीर के खुजलाने से, वन के मच्छड़ों के 'बैठने पर उन्हें' उड़ाने से और बिना रुकावट के स्वच्छन्द फिरने देने से उस 'नन्दिनी' को प्रसन्न करने में तत्पर हुए ॥ ५॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

सञ्जी०—भूपतिस्तां गां स्थितां सतीं स्थितः सन्। स्थितिरूर्ध्वावस्थानम्। प्रयातां प्रस्थितामुच्चलितः प्रस्थितः। निषेदुषीं निषण्णाम्। उपविष्टामित्यर्थः। 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः। 'उगितश्च' इति ङीप्। आसनबन्ध उपवेशने धीरः। स्थित उपविष्टः सन्नित्यर्थः। जलमाददानां जलं पिबन्तीं जलाभिलाषी जलं पिबन्नित्यर्थः। इत्थं छायेवान्वगच्छदनुसृतवान्।

अ०—भूपतिः, तां, स्थितां (सतीम्), स्थितः (सन्), प्रयातां (सतीम्), उच्चलितः (सन्), निषेदुषीं (सतीम्), आसनबन्धधीरः (सन्), जलम्, आददानां (सतीम्), जलाभिलाषी (सन्, इत्थम्), छाया, इव, अन्वगच्छत्।

वा—भूपतिना सा स्थिता सती स्थितेन सता प्रयातोच्चलितेन निषेदुषी आसनबन्धधीरेण जलमाददाना जलाभिलाषिणा छाययेवान्वगम्यत।

सुधा—भूपतिः=पृथ्वीश्वरः, तां=धेनुम्। स्थिताम्=ऊर्ध्वमवतिष्ठमानाम् 'क्वचित् सतीमि'ति शेषः, सर्वत्राग्रेऽपि योजनीयः। स्थितः=ऊर्ध्वमवतिष्ठमानः, सन्निति शेषः। सर्वत्राग्रेऽपि ज्ञेयः। प्रयातां=पुनः प्रस्थानं विदधानाम्। उच्चलितः=प्रस्थानं कुर्वाणः, निषेदुषीम्=उपविष्टाम्, आसनबन्धधीरः=वीरासनविरचनस्वच्छन्दोऽर्थादुपविष्ट इति भावः। जलं=सलिलम्, आददानां=पिबन्तीम्, जलाभिलाषी=वारि पिबन्।

इत्थमित्यस्याक्षेपः कर्त्तव्यः । छाया=प्रतिबिम्बं, धेनोरिति शेषः । इव=यथा, अन्वगच्छत्=अनुससार ।

स०—निषासादेति निषेदुषी तां तथोक्तम् । आसनस्य बन्ध आसानबन्धः तत्र धीरः आसनबन्धधीरः । जलमभिलषितुं शीलमस्यासौ जलाभिलाषी । आदत्त इत्याददाना तामाददानाम् । भुवः पतिर्भूपतिः ।

को०—'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इति । 'भूर्भूमिरचलाऽनन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा' इति चामरः ।

ता०—नन्दिनीसेवापरायणो राजा दिलीपो धेनोश्छायासदृशस्तदीयानुसरणं कृतवान् ।

इन्दुः—पृथ्वीपति 'राजा दिलीप' ने उस नन्दिनी की ठहरती हुई की ठहरते हुए, चलती हुई की चलते हुए, बैठती हुई की बैठते हुए, जल पीती हुई की जल पीते हुए, इस प्रकार से छाया की भाँति अनुसरण किया ॥ ६ ॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥

सञ्जी०—स इति । न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि यस्यास्तां, तथाभूतामपि, तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमिताम्, 'सर्वथा राजैवायं भवेदि'त्यूहितां राजलक्ष्मीं दधानः स राजा, अनाविष्कृतदानराजिर्बहिरप्रकटितमदरेखः । अन्तर्गता मदावस्था यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः, तथाभूतो द्विपेन्द्र इव आसीत् ।

अ०—न्यस्तचिह्नाम् अपि, तेजोविशेषानुमितां, राजलक्ष्मीं, दधानः, सः, अनाविष्कृतदानराजिः, अन्तर्मदावस्थः, इव, आसीत् ।

वा०—दधानेन तेनानाविष्कृतदानराजिनाऽन्तर्मदावस्थाने द्विपेन्द्रेणेवाभूयत ।

सुधा०—न्यस्तचिह्नाम्=परित्यक्तच्छत्रचामरादिलक्षणाम्, अपि=समुच्चये, तेजोविशेषानुमितां=दीप्त्यतिशयतर्कितां, राजलक्ष्मीं=नृपश्रियं, दधानः=बिभ्राणः, सः=राजा दिलीपः । अनाविष्कृतदानराजिः=बहिरप्रकटितमदलेखः अन्तर्मदावस्थः=अभ्यन्तरगतदानदशः, द्विपेन्द्रः=गजेन्द्रः इव=यथा, आसीत्=अभवत् ।

स०—न्यस्तानि चिह्नानि यस्याः सा न्यस्तचिह्ना तां न्यस्तचिह्नाम् । राज्ञो लक्ष्मी राजलक्ष्मीस्तां राजलक्ष्मीम् । तेजसो विशेषस्तेजोविशेषः, तेनानुमिता तेजोविशेषानुमिता तां तथोक्ताम् । न आविष्कृता अनाविष्कृता, दानस्य राजिर्दानराजिः, अनाविष्कृता दानराजिर्यस्यासावनाविष्कृतदानराजिः । मदस्यावस्था मदावस्था, अन्तरन्तर्गता मदावस्था यस्यासावन्तर्मदावस्थः । द्वाभ्यां पिबन्तीति द्विपास्तेष्विन्द्रो द्विपेन्द्रः ।

को०—'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इति । 'मदो दानम्'

इति। 'लेखास्तु राजयः' इति। 'द्विरदोऽनेकपो द्विपः। मतङ्गजो गजो नागः इति। 'न वा यथा तथैवैवं साम्ये' इति चामरः।

ता०—यथा कश्चिद् गजेन्द्रो दानलेखा अप्रकटयन्नपि स्वतेजोविशेषेण निजान्तर्गतां मदावस्थां सर्वान् बोधयति तथैवासावपि राजा दिलीपश्छत्रचामरादिजचिह्नै रात्मनो राजश्रियमदर्शयन्नपि प्रभावातिशयेनैकं स्वकीयं चक्रवर्त्तित्वमनुमापयतिस्म।

इन्दुः—यद्यपि वे छत्र-चामरादि चिह्नों से भूषित नहीं थे, तथापि अपने तेज की अधिकता से ही जानी जाती हुई राजलक्ष्मी को धारण करते हुये, प्रकट रूप से नहीं दिखाई पड़ रही है मद की रेखा जिसकी, अत एव भीतर में स्थित है मद की अवस्था जिसकी, ऐसे गजराज की भाँति मालूम पड़ते थे॥ ७॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षाऽपदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥ ८॥

सञ्जी०—लतेति। लतानां वल्लीनां प्रतानैः कुटिलतन्तुभिरुद्ग्रथिता उन्नमय्य ग्रथिता ये केशास्तैरुपलक्षितः। 'इत्थम्भूतलक्षणे' इति तृतीया। स राजा। अधिज्यमारोपितमौर्वीकं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन्। 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः। मुनिहोमधेनो रक्षापदेशाद्रक्षणव्याजात्। वन्यान् वनेभवान् दुष्टसत्त्वान् दुष्टजन्तून् 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः। विनेष्यन् शिक्षयिष्यन्निव दावं वनम्। 'वने च वनवह्नौ च दावो दव इहेष्यते' इति यादवः। विचचार वने चचारेत्यर्थः। 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति दावस्य कर्मत्वम्।

अ०—लताप्रतानोद्ग्रथितैः, केशैः, (उपलक्षितः) सः अधिज्यधन्वा (सन्), मुनिहोमधेनोः, रक्षाऽपदेशात्, वन्यान्, दुष्टसत्त्वान्, विनेष्यन्, इव, दावं, विचचार। वा०—तेनाधिज्यधन्वना सता विनेष्यतेव दावो विचेरे।

सुधा०—लताप्रतानोद्ग्रथितैः=वल्लीकुटिलतन्तुसदृशशाखादिभिरुन्नमय्य गुम्फितैः, केशैः=बालैः, उपलक्षितः। सः=राजा दिलीपः, अधिज्यधन्वा=आरोपितमौर्वीकधनुष्मान्। सन्निति शेषः। मुनिहोमधेनोः=वसिष्ठहवनगव्याः, नन्दिन्याः, रक्षाऽपदेशात्=रक्षणव्याजात्, वन्यान्=काननसमुद्भवान्, दुष्टसत्त्वान्=सिंहादिहिंस्रजन्तून्, विनेष्यन्=शिक्षयिष्यन्, इव=यथा, दावं=वनं, विचचार=व्यचरत्।

स०—लतानां प्रताना लताप्रतानाः, तैरुद्ग्रथिता लताप्रतानोद्ग्रथितास्तैस्तथोक्तैः। अधिरोपिता ज्या यत्र तदधिज्यम् अधिज्यं धनुर्यस्यासावधिज्यधन्वा। रक्षाया अपदेशो रक्षाऽपदेशस्तस्माद्रक्षाऽपदेशात्। होमस्य धेनुर्होमधेनुः, मुनेर्होमधेनुर्मुनिहोमधेनुस्तस्या मुनिहोमधेनोः। वने भवा वन्यास्तान्वन्यान्। विनेष्यतीति विनेष्यन्। दुष्टाश्च ते सत्त्वास्तान् दुष्टसत्त्वान्।

को०—'वल्ली तु व्रततिर्लता' इति। 'चिकुरः कुन्तलो वालः कचः केशः शिरो-

रुहः' इति । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इति । 'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम् । इष्वासोऽपि' इति चामरः ।

ता०—स राजा दिलीपश्छायेव नन्दिनीपदानुसरणेन कुटिलतन्तुनिभशाखाऽऽघुद्ग्रथितकेशो धनुष्पाणिः सन् वने विचरणं कृतवांस्तद् गोरक्षणव्याजेन दुष्टपशूनां सिंहादीनां शिक्षणार्थमेव ।

इन्दु—लताओं के टेढ़े टेढ़े सूत के समान शाखादिकोंसे उलझे हुए सिरके बालों से सुशोभित वे राजा दिलीप प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुष को धारण किए वसिष्ठ महर्षि के होम की सामग्री घृतादि देनेवाली नन्दिनी की रक्षा करने के व्याज से वनैले दुष्ट 'व्याघ्रादि' जीवों का शासन करने के लिये मानो जङ्गल में घूम रहे थे ॥ ८ ॥

'विसृष्ट'—इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि राजोपचारं चक्रुरित्याह—

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥ ९ ॥

सञ्जी० = विसृष्टेति । विसृष्टाः पार्श्वानुचराः पार्श्ववर्तिनो जना येन तस्य । पाशभृता वरुणेन समस्य तुल्यस्य । 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः । अनुभावोऽनेन सूचितः । तस्य राज्ञः पार्श्वयोर्द्रुमाः । उन्मदानामुत्कटमदानां वयसां खगानाम् । 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । विरावैः शब्दैः । आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्दं जयशब्दमित्यर्थः । 'आलोको जयशब्दः स्याद्' इति विश्वः । उदीरयामासुरिवावदन्निव, इत्युत्प्रेक्षा ।

अ०—विसृष्टपार्श्वानुचरस्य, पाशभृता, समस्य, तस्य, पार्श्वद्रुमाः, उन्मदानां, वयसां, विरावैः आलोकशब्दम्, उदीरयामासुः, इव ।

वा०—पार्श्वद्रुमरालोकशब्दः, उदीरयाञ्चक्रे ।

सुधा—विसृष्टपार्श्वानुचरस्य=त्यक्तान्तिकवर्तिसेवकस्य, पाशभृता=वरुणेन, समस्य=सदृशस्य, तस्य=दिलीपस्य, पार्श्वद्रुमाः=अन्तिकवर्त्तिवृक्षाः, उन्मदानाम्=उन्मदिष्णूनाम्, वयसां=खगानां, विरावैः=शब्दैः, आलोकशब्दं=जयशब्दं, नृपतिमालोकयेतिसूचकशब्दमित्यर्थः । उदीरयामासुः=कथयामासुः, इव=यथा । अत्रोत्प्रेक्षा ।

स०—पार्श्वयोरनुचराः पार्श्वानुचराः, विसृष्टाः पार्श्वानुचरा येन स विसृष्टपार्श्वानुचरस्तस्य तथोक्तस्य । पार्श्वयोर्द्रुमाः पार्श्वद्रुमाः । पाशं बिभर्त्तीति पाशभृत्तेन पाशभृता । उद्गतो मदो येषान्ते उन्मदास्तेषामुन्मदानाम् । आलोकस्य शब्द आलोकशब्दस्तमालोकशब्दम् ।

को०—'पार्श्वमन्तिके । कक्षाऽधोऽवयवे चक्रोपान्तपशुसमूहयोः' इत्यने० । 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः । अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रुद्रुमा-

गमाः' इति। 'उन्मदस्तून्मदिष्णुः स्याद्' इति। 'शब्दे, आरवारावसंरावविरावाः' इति चामरः।

ता०—विसर्जितानुचरवर्गस्यापि तेजसा वरुणसदृशस्य तस्य दिलीपस्योभयपार्श्वस्थितेषु वृक्षेषु संस्थितानामुन्मादशीलानां पक्षिणां कूजितं वन्दिजनभाषितजयशब्द इव बभूव।

इन्दुः—पार्श्ववर्त्ती अनुचरवृन्द के छोड़ देने पर भी वरुण के समान 'प्रभावशाली' उन राजा दिलीप के आसपास के वृक्षों ने उन्मत्त पक्षियों के शब्दों द्वारा जयशब्द उच्चारण किया ऐसा मालूम पड़ता था॥ ९॥

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम्।
अवाकिरन् बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ १०॥

सञ्जी०—मरुत्प्रयुक्ताश्चेति। मरुत्प्रयुक्ताः वायुना प्रेरिताः, बाललताः, आरात्समीपेऽभिवर्त्तमानम् 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः। मरुतो वायोः सखा मरुत्सखोऽग्निः। स इवाभातीति मरुत्सखाभम्। 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः। अर्च्यं पूज्यं तं दिलीपं प्रसूनैः पुष्पैः। पौरकन्याः पौराश्च ताः कन्या आचारार्था लाजास्तैराचारलाजैरिव। अवाकिरन् तस्योपरि निक्षिप्तवत्य इत्यर्थः। सखा हि सखायमागतमुपचरतीति भावः।

अ०—मरुत्प्रयुक्ताः, बाललताः आराद्, अभिवर्त्तमानम्, मरुत्सखाभम्, अर्च्यं, तं, प्रसूनैः, पौरकन्याः आचारलाजैः, इव, अवाकिरन्। वा०—मरुत्प्रयुक्ताभिर्बाललताभिरभिवर्त्तमानो मरुत्सखाभोऽर्च्यः स प्रसूनैः पौरकन्याभिरवाकीर्यत।

सुधा—मरुत्प्रयुक्ताः समीरनुन्नाः, बाललताः नातिचिरोत्पन्ना लतिकाः, आरात् समीपे, अभिवर्त्तमानं = विद्यमानम्, मरुत्सखाभम् = तेजसाऽग्निसमम्। 'अत एव' अर्च्यम् = पूज्यं, तं = दिलीपम्, प्रसूनैः = कुसुमैः, पौरकन्याः = पुरनिवासिनां कन्यका नार्यो वा, आचारलाजैः = मङ्गलाचारार्थकभृष्टधान्यैः, राजोपरि पौरकन्यानाम् मङ्गलार्थं भृष्टधान्यनिक्षेप इति लोकाचारः। इव = यथा, अवाकिरन् = प्रचिक्षिपुः।

समा० = मरुता प्रयुक्ता मरुत्प्रयुक्ताः। मरुतः सखा मरुत्सखः, मरुत्सखस्याभा इव आभा यस्य स मरुत्सखाभस्तं मरुत्सखाभम्। बालाश्च ता लता बाललताः। आचारार्था लाजा आचारलाजास्तैराचारलाजैः। पुरे भवाः पौराः, पौराणां कन्याः पौरकन्याः।

को०—'समीरमारुतमरुज्जगत्प्राणसमीरणाः' इति। 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इति। 'प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इति। 'लाजाः पुम्भूम्नि चाक्षताः' इति चामरः।

ता०—स्वमित्रेण वह्निना तुल्यं दीप्तिमन्तं दिलीपमागतं वीक्ष्य कोमललतासमीपे स्थितस्य तस्योपरि पुष्पवर्षणं कृतवत्यो यथा पौरकन्या मङ्गलार्थकलाजवर्षणं कुर्वन्ति।

इन्दुः—वायु से प्रेरित (हिलाई गई) कोमल २ लताओं ने अग्नितुल्य (तेजस्वी), समीप में स्थित, पूज्य उन (राजा दिलीप) के ऊपर फूलों की वर्षा की, जैसे कि—नगरवासियों की कन्यायें मङ्गलार्थक धान के लावों की वर्षा करती थीं ॥ १ ॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयाऽऽर्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥ ११ ॥

सञ्जी०—धनुर्भृत इति । धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः । एतेन भयसम्भावना दर्शिता । तथाऽपि विशङ्कैर्निर्भीकैरन्तःकरणैः कर्तृभिः । दयया कृपारसेनार्द्रो भावोऽभिप्रायो यस्य तद्दयाऽऽर्द्रभावं तदाख्यातम् । दयाऽऽर्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः । 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु' इत्यमरः । तथाविधं वपुर्विलोकयन्त्यो हरिण्योऽक्ष्णां प्रकामविस्तारस्यात्यन्तविशालतायाः फलमापुः (विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं च) इति न्यायेन स्वान्तःकरणवृत्तिप्रामाण्यादेव विश्रब्धं ददृशुरित्यर्थः ।

अ०—धनुर्भृतः, अपि, अस्य, विशङ्कैः, अन्तकरणैः, दयार्द्रभावम्, आख्यातं वपुः, विलोकयन्त्यः, हरिण्यः, अक्ष्णां प्रकामविस्तारफलम्, आपुः ।

वा०—विलोकयन्तीभिर्हरिणीभिरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलमापे ।

सुधा—धनुर्भृतः = शरासनधारिणः, अपि = सम्भावनायाम्, अस्य = राज्ञः, दिलीपस्येति यावत् । 'तथापि' विशंकैः = शंकारहितैः, अन्तकरणैः = चित्तैः; दया-ऽऽर्द्रभावम् = कृपारसार्द्राभिप्रायम्, एतद् वपुर्विशेषणम् । आख्यातम् = प्रकथितं, दयाऽऽर्द्रभावमिदमिति कथितमित्यर्थः । 'तथाविधं वपुः = शरीरं, विलोकयन्त्यः = पश्यन्त्यः, हरिण्यः = मृग्यः, अक्ष्णां = चक्षुषां, प्रकामविस्तारफलम् = अत्यन्तदैर्घ्य-फलम्, आपुः = अधिजग्मुः ।

समा०—धनुर्बिभर्तीति धनुर्भृत् तस्य धनुर्भृतः । दयया आर्द्रो दयाऽऽर्द्रः, दया-ऽऽर्द्रो भावो यस्य तद्दयाऽऽर्द्रभावं तत्तथोक्तम् । आख्यायते स्म यत्तदाख्यातम् । अन्तरन्तःस्थानि च तानि करणानि अन्तःकरणानि तैरन्तःकरणैः । विगता शङ्का येभ्यस्तानि विशङ्कानि तैर्विशंकैः । विलोकयन्तीति विलोकयन्त्यः । प्रकामं विस्तारः प्रकामविस्तारस्तस्य फलं तत्तथोक्तम् ।

कोशः०—'दया कृपाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशोऽपि' इति । 'शंका भये संशये च' इत्यने० । 'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी । दृग्दृष्टी च' इति । 'कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्' इति । 'मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाजिनयोनय' इति चामरः ।

ता०—यद्यपि राजा दिलीपो धनुर्दधानः सन् वेषतो भयप्रद आसीत्, परन्तु स्व-स्वान्तःकरणैस्तदीयं दयार्द्रभावं ज्ञात्वा, अत एव भयरहिता हरिण्यो दिलीपशरीर विस्फारितनयनाः सत्यः पश्यन्त्यः स्वस्वनयनानां विशालतायाः सफलता-मधिजग्मुः ।

इन्दुः—धनुष को धारण किये हुए भी राजा दिलीप का शङ्का से शून्य अपने अन्तःकरणों के द्वारा दया से आर्द्र अभिप्राय मालूम होने से उनके शरीर को विशेष रूप से देखती हुई हारिणियों ने अपनी आंखों का अत्यन्त बड़े होने का फल प्राप्त किया ॥ ११ ॥

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ १२ ॥

सञ्जी०—स इति । स दिलीपो मारुतपूर्णरन्ध्रैः अत एव कूजद्भिः स्वनद्भिः कीचकैर्वेणुविशेषैः । 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः । वंशः सुषिरवाद्यविशेषः । 'वंशादिकं तु सुषिरम्' इत्यमरः । आपादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्य कार्यं यस्मिन्कर्मणि तत्तथा । कुञ्जेषु लतागृहेषु 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लताऽऽदिपिहितोदरे'इत्यमरः । वनदेवताभिरुद्गीयमानमुच्चैर्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव श्रुतवान् ।

अ०—सः मारुतपूर्णरन्ध्रैः, कूजद्भिः, कीचकैः, आपादितवंशकृत्यं, कुञ्जेषु, वनदेवताभिः, उच्चैः, उद्गीयमानं, स्वं, यशः, शुश्राव । वा०—तेन स्वं यशः शुश्रुवे ।

सुधा०—सः = राजा मारुतपूर्णरन्ध्रैः = वायुपूरितच्छिद्रैः 'अत एव', कूजद्भिः = शब्दं कुर्वद्भिः, कीचकैः = वंशविशेषैः, आपादितवंशकृत्यं=परिपूरितवेणुवाद्यकार्यम् । वनदेवताकर्तृकगानक्रियाविशेषणमेतद् । कुञ्जेषु = लतागृहेषु, वनदेवताभिः = काननाधिष्ठातृदेवीभिः, उच्चैः = तारस्वरेण, उद्गीयमानं = स्तूयमानम् । स्वम् = आत्मीयं, यशः = कीर्तिं, शुश्राव=आकर्णयामास ।

स०—मारुतेन पूर्णानि मारुतपूर्णानि तानि रन्ध्राणि येषान्ते मारुतपूर्णरन्ध्रास्तैस्तथोक्तैः । वंशस्य कृत्यं वंशकृत्यम् । आपादितं वंशकृत्यं यस्मिन् कर्मणि तदापादितवंशकृत्यम् ।। ऊद्गीयत इत्युद्गीयमानन्तदुद्गीयमानम् । वनानां देवता वनदेवतास्ताभिर्वनदेवताभिः ।

कोशः—'वंशो वेणौ कुले वर्गे पृष्ठाद्यवयवेऽपि च' इति विश्वः । 'कृत्या क्रियादेवतयोस्त्रिषु भेद्ये धनादिभिः' इति । 'महत्युच्चैः' इति चामरः ।

ता०—राजा दिलीपो लताऽदिनिर्मितगृहेषु वनाधिष्ठातृदेवताभिरुच्चैरुद्गीयमानं निजयशः श्रुतवान् ।

इन्दुः—उन राजा दिलीप ने वायु से भरे हुए छिद्रों के होने से शब्द करते हुये कीचकसंज्ञक बांसों से वंशी का कार्य सम्पादन जिसमें हो रहा है, ऐसे लतागृहों में वन की अधिष्ठात्री देवियों से ऊँचे स्वरों में गाया जाता अपना यश सुना ॥१२॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाऽऽकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ १३ ॥

सञ्जी०—पृक्त इति । गिरिषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणाम् । 'वारिप्रवाहो

निर्झरो झरः' इत्यमरः। तुषारैः सीकरैः। 'तुषारौ हिमसीकरौ' इति शाश्वतः। पृक्तः सम्पृक्तोऽनोकहानां वृक्षाणामाकम्पितानीषत्कम्पितानि पुष्पाणि तेषां यो गन्धः सोऽस्यास्तीत्याकम्पितपुष्पगन्धी ईषत्कम्पितपुष्पगन्धवान्, अत एव शीतो मन्दः सुरभिः पवनो वायुरनातपत्रं व्रतार्थं परिहृतच्छत्रम्। अत एवातपक्लान्तमाचारेण पूतं शुद्धं तं नृपं सिषेवे। आचारपूतत्वात्स राजा जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः।

अ०—गिरिनिर्झराणां, तुषारैः, पृक्तः, अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी, पवनः, अनातपत्रम्, आतपक्लान्तम्, आचारपूतं, तं, सिषेवे। वा०—पृक्तेनानोऽकहाकम्पितपुष्पगन्धिना पवनेनानातपत्र आतपक्लान्त आचारपूतः स सिषेवे।

सुधा—गिरिनिर्झराणां = शैलवारिप्रवाहाणां, तुषारैः = सीकरैः, शीतजलकणिकाभिरिति यावत्। पृक्तः = सम्पृक्तः, अनोऽकहाकम्पितपुष्पगन्धी = पादपेषच्चलितप्रसूनामोदवान्, पवनः = वातः, अनातपत्रं = छत्ररहितं, व्रतार्थमस्वीकृतच्छत्रमिति भावः। 'अत एव' आतपक्लान्तं = घर्मम्लानम्, आचारपूतम् = सदाचारशुद्धम्। तं = दिलीपम्, सिषेवे = असेविष्ट।

समा०—गिरिषु निर्झरा गिरिनिर्झरास्तेषां गिरिनिर्झराणाम्। 'अनसः शकटस्याकं गतिं घ्नन्तीत्यनोऽकहाः, आकम्पितानि च तानि पुष्पाण्याकम्पितपुष्पाणि, अनोऽकहानामाकम्पितपुष्पाण्यनोऽकहाकम्पितपुष्पाणि तेषां गन्धोऽनोऽकहाकम्पितपुष्पगन्धः सोऽस्यास्तीत्यनोऽकहाकम्पितपुष्पगन्धी। आतपात् त्रायत इत्यातपत्रम्, न विद्यत आतपत्रं यस्यासावनातपत्रस्तमनातपत्रम्। आचारेण पूत आचारपूतस्तमाचारपूतम्।

को०—'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः। 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः। 'घर्मः स्यादातपे ग्रीष्मेऽप्यूष्मस्वेदाम्भसोरपि' इति मेदिनी। 'छत्रन्त्वातपत्रम्' इत्यमरः।

ता०—शीतलो मन्दः सुरभिश्च पवनश्छत्ररहितं घर्मम्लानं सदाचारपवित्रं तं दिलीपमसेविष्ट।

इन्दुः—पहाड़ी झरनों के जलबिन्दुओं से युक्त, अत एव शीतल तथा वृक्षों के कुछ २ हिले हुये फूलों के गन्ध को लेता हुआ 'मन्द २ सुगन्धित वायु, व्रत करने से छत्र से रहित अत एव घाम से मुरझाये हुये सदाचार से पवित्र उन राजा दिलीप की सेवा करने लगा ॥ १३ ॥

शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥ १४ ॥

सञ्जी०—शशामेति। गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने प्रविशति सति वृष्ट्या विनाऽपि दवाग्निर्वनाग्निः 'दवदावौ वनानले' इति हैमः। शशाम। फलानां पुष्पाणां च वृद्धिः। विशेष्यत इति विशेषा अतिशयिताऽऽसीत्। कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः। सत्त्वेषु

जन्तुषु मध्ये। 'यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी। अधिकः प्रबलो व्याघ्रादिरूपो दुर्बलं हिरणादिकं न बबाधे।

अ०—गोप्तरि, तस्मिन्, वनं, गाहमाने (सति), वृष्ट्या, विना, अपि दवाग्निः, शशाम, फलपुष्पवृद्धिः, विशेषा, आसीत्, सत्त्वेषु (मध्ये), अधिकः, ऊनं, न बबाधे।

वा०—दवाग्निना, शेमे, फलपुष्पवृद्ध्या विशेषयाऽभूयत, अधिकेनोनो न बबाधे।

सुधा—गोप्तरि = रक्षितरि, तस्मिन् = राज्ञि, दिलीपे। वनं = विपिनं, गाहमाने= प्रविशति, सतीति शेषः। वृष्ट्या = वर्षणेन, विना = अन्तरेण, अपि = समुच्चये, दवाग्निः = वनवह्निः, शशाम = अशमत्, फलपुष्पवृद्धिः = सस्यप्रसूनसमृद्धिः, विशेषा = अतिशयिता, आसीत्=अभवत्, सत्त्वेषु=जन्तुषु मध्ये, अधिकः=प्रबलो व्याघ्रादिः, ऊनं=हीनं, मृगादिकम्। न = नहि, बबाधे = पीडयामास।

समा०—दवस्याग्निर्दवाग्निः। विशिष्यतेऽसौ विशेषा। फलानि च पुष्पाणि च फलपुष्पाणि फलपुष्पाणां वृद्धिः फलपुष्पवृद्धिः। गोपायतीति गोप्ता तस्मिन् गोप्तरि। गाहत इति गाहमानस्तस्मिन् गाहमाने।

कोशः—'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इति। 'पृथग्विनाऽन्तरेणर्ते हिरुङ् नाना च वर्जने' इति 'हीनन्यूनावूनगर्ह्यौ' इति चामरः।

ता०—जगद्रक्षकस्य दिलीपस्य प्रभावाद् वनप्रवेशक्षण एव दवाग्निशान्तिः फलपुष्पवृद्धिर्वन्यजीवेषु निरुपद्रवता च सविशेषमभूत्।

इन्दुः—जगत् की रक्षा करने वाले उन राजा दिलीप के वन में प्रवेश करने पर वृष्टि के विना ही वन की अग्नि शान्त हुई, फल और पुष्पों की वृद्धि अधिक हुई, तथा बनैले जीवों के बीच में कोई, बलवान् 'व्याघ्रादि' अपने से निर्बल किसी 'मृगादि' को नहीं सताने लगा॥ १४॥

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥ १५॥

सञ्जी०—सञ्चारेति। पल्लवस्य रागो वर्णः पल्लवरागः। 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु'। इति शाश्वतः। स इव ताम्रा पल्लवरागताम्रा। पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रभा कान्तिः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इति शाश्वतः। मुनेर्धेनुश्च। दिगन्तराणि दिशामवकाशान्। 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः। सञ्चारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते सायंकाले निलयायास्तमयाय। धेनुपक्षे आलयाय च गन्तुं प्रचक्रमे।

अ०—पल्लवरागताम्रा, पतङ्गस्य, प्रभा, मुनेः, धेनुः, च, दिगन्तराणि, सञ्चार-पूतानि, कृत्वा, दिनान्ते, निलयाय, गन्तुं, प्रचक्रमे।

वा०—पल्लवरागताम्रया पतङ्गस्य प्रभया मुनेर्धेन्वा च प्रचक्रमे।

सुधा—पल्लवरागताम्रा = किसलयवर्णारुणा, पतङ्गस्य = सूर्यस्य, प्रभा = कान्तिः; मुनेः = महर्षेर्वसिष्ठस्य । धेनुः = नन्दिनी, च = समुच्चये, दिगन्तराणि = आशावकाशान्, सञ्चारपूतानि = सञ्चरणपवित्राणि, कृत्वा = सम्पाद्य, दिनान्ते = दिवसावसाने, निलयाय = (प्रभापक्षे) अस्तमयाय, (धेनुपक्षे) गृहाय, गन्तुं = यातुं, प्रचक्रमे = उपक्रमं कृतवती ।

समा०—सञ्चारेण पूतानि सञ्चारपूतानि तानि सञ्चारपूतानि । दिशामन्तराणि दिगन्तराणि तानि दिगन्तराणि । दिनस्यान्तो दिनान्तस्तस्मिन् दिनान्ते ।

कोशः—'निलयोऽस्तमये गृहे । गोपनस्य प्रदेशेऽपि' इति हैमः । 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः । 'ताम्रं शुल्बेऽरुणेऽपि च' इति मेदिनी ।

ता:०—सूर्यकान्तिर्यथा सायङ्कालेऽस्तमयाय गन्तुमुपक्रमं कृतवती तथैव मुनिहोमधेनुरपि स्वाश्रमाय गन्तुमुद्यताऽभूत् ।

इन्दुः—पल्लव के वर्ण की तरह लाल वर्णवाली सूर्य की प्रभा और मुनि वसिष्ठ की धेनु ये दोनों, दिशाओं के मध्यभाग को अपने-अपने सञ्चार से पवित्र करके दिन के अन्त (सन्ध्याकाल) में अस्त होने के लिये तथा अपने आश्रम में पहुँचने के लिये उपक्रम करने लगीं ॥ १५ ॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ १६ ॥

सञ्जी०—तामिति । मध्यमलोकपालो भूपालः । देवतापित्रतिथीनां क्रिया यागश्राद्धदानानि ता एवार्थः यस्यास्तां धेनुमन्वगनुपदं ययौ । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीवमव्ययम्' इत्यमरः । सतां मतेन सद्भिर्मान्येन । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना वर्त्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । तेन राज्ञोपपन्ना युक्ता सा धेनुः सतां मतेन विधिनाऽनुष्ठानेनोपपन्ना युक्ता साक्षात्प्रत्यक्षा श्रद्धाऽऽस्तिक्यबुद्धिरिव बभौ च ।

अ०—मध्यमलोकपालः, देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्थां, ताम्, अन्वग्, ययौ, सतां मतेन, तेन, उपपन्ना, सा, (सताम्मतेन), विधिना, (उपपन्ना) साक्षात्, श्रद्धा, इव, बभौ च । वा०—मध्यमलोकपालेन देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्था साऽन्वग् यये उपपन्नया तया साक्षाच्छ्रद्धयेव बभे च ।

सुधा—मध्यमलोकपालः = भूपो दिलीपः, देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्थां = सुरपितृप्राघुणिककृत्यप्रयोजनकां, यज्ञश्राद्धदानादिसाधिकामिति यावत् । तां=वनात्परावर्त्तमानां नन्दिनीम्, अन्वग् = अन्वक्षम् । ययौ = जगाम, सतां = साधूनां, विदुषां वा, मतेन = पूजितेन, तेन=राज्ञा, दिलीपेन, उपपन्ना = युक्ता, सा = धेनुः, सताम्मतेन= साधुजनाचरितेन, विधिना = विधानेन, उपपन्ना=युक्ता, सहितेति यावत् । साक्षात्=

प्रत्यक्षा, श्रद्धा = आस्तिक्यबुद्धिः, इव = यथा, बभौ = शुशुभे, च = पुनः, अन्वाचयेऽर्थे चकारो बोध्यः।

समा०--देवताश्च पितरश्चातिथयश्चेति देवतापित्रतिथयः, तासां क्रिया देवतापित्रतिथिक्रियाः ता एवार्थः प्रयोजनं यस्याः सा देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्था तां तथोक्ताम्। अन्वञ्चतीत्यन्वग्। मध्ये भवो मध्यमः, मध्यमश्चासौ लोको मध्यमलोकः, तत्पालयतीति मध्यमलोकपालः।

कोशः--'लोकस्तु भवने जने' इति। 'साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः' इति। 'विधिविधाने दैवेऽपि' इति चामरः।

ता०--पृथ्वीपतिर्दिलीपो देवादिनिमित्तकयागादिसाधिकां तां धेनुमनुगच्छन् सन् ययौ, साधुजनपूजितेन तेन युक्ता सती साऽपि साक्षादनुष्ठानेन युक्ताऽऽस्तिक्यबुद्धिरिव शुशुभे।

इन्दुः--भूलोक के पालन करने वाले राजा दिलीप देवता, पितर और अतिथि लोगों के कार्य (यज्ञ, श्राद्ध भोजनादि) को साधने वाली, उस धेनु के पीछे-पीछे चले, और सज्जनों के द्वारा पूजित उनसे युक्त, वह (नन्दिनी) भी सज्जनों से किये गये अनुष्ठान से युक्त श्रद्धा जैसी सुशोभित होती है वैसी सुशोभित होने लगी ॥१६॥

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥

सञ्जी०--स इति। स राजा। पल्वलेभ्योऽल्पजलाशयेभ्य उत्तीर्णानि निर्गतानि वराहाणां यूथानि कुलानि येषु तानि। बर्हाण्येषां सन्तीति बर्हिणा मयूराः। 'मयूरो बर्हिणो बर्ही' इत्यमरः। 'फलबर्हाभ्यामिनच्प्रत्ययो वक्तव्यः' आवासवृक्षाणामुन्मुखा बर्हिणा येषु तानि श्यामायमानानि वराहबर्हिणादिमलिनिम्ना, अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि। 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति क्यष्प्रत्ययः। 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदे शानच्। मृगैरध्यासिता अधिष्ठिताः शाद्वला येषु तानि। शादाः शष्पाण्येषु देशेषु सन्तीति शाद्वलाः शष्पश्यामदेशाः। 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः। 'शादः कर्दमशष्पयोः' इति विश्वः। 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलच्प्रत्ययः। वनानि पश्यन्ययौ।

अ०--सः, पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि, आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि, मृगाध्यासितशाद्वलानि, श्यामायमानानि, वनानि, पश्यन्, सन् ययौ।

वा०--तेन पश्यता सता यये।

सुधा--सः = राजा दिलीपः, पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि = अल्पसरोनिर्यातशूकरसमूहानि, आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि = निवासार्थपादपाभिमुखशिखावलानि, मृगाध्यासितशाद्वलानि = हरिणाधिष्ठितशादहरितानि, 'अत एव शूकरमयूरशष्पादीनां श्यामतया' श्यामायमानानि = कृष्णीभूतानि, वनानि = अरण्यानि, पश्यन् = अवलोकयन्, 'सन्' ययौ = जगाम।

सुधा—पल्वलेभ्यः उत्तीर्णानि पल्वलोत्तीर्णानि वराहाणां यूथानि वराहयूथानि पल्वलोत्तीर्णानि वराहयूथानि येषु तानि पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि तानि पूर्वोक्तानि। आवासस्य वृक्षा आवासवृक्षाः, आवासवृक्षाणामुन्मुखा आवासवृक्षोन्मुखाः, आवासवृक्षोन्मुखा बर्हिणाः सन्ति येषु तान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि तानि पूर्वोक्तानि। मृगैरध्यासिता मृगाध्यासिताः; मृगाध्यासिताः शाद्वलाः सन्ति येषु तानि मृगाध्यासितशाद्वलानि तानि पूर्वोक्तानि। अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायन्ते, श्यामायन्त इति श्यामायमानानि तानि पूर्वोक्तानि।

कोशः—'वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरः' इति। 'वराहः सूकरो घृष्टिः' इति। 'मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्।' इति चामरः।

ता०— स राजा दिलीपः स्वल्पजलाशयेभ्यो विनिर्गतानां सूकरयूथानां, निजनिजनिवासार्थंवृक्षान् प्रति गन्तुमुत्सुकानां मयूराणां मृगैरधिश्रितैः शष्पैर्हरितानां वनप्रदेशानां च श्यामतया सर्वत्र कृष्णवर्णानि विलोकयन् वसिष्ठाश्रमं प्रति जगाम।

इन्दुः—वह राजा दिलीप छोटे-छोटे तालावों से निकले हुए बनैले सूअरों के झुण्डवाले, अपने अपने आवासयोग्य वृक्षों की तरफ 'जाने के लिए' उन्मुख मयूरों वाले तथा हरिण जिन पर बैठे हुए हैं ऐसे घासों से हरे प्रदेशवाले 'अत एव सर्वत्र' श्याम ही श्याम वनों को देखते हुए जाने लगे॥ १७॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्॥ १८॥

सञ्जी०—आपीनेति। गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः। 'गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः' इति हलायुधः। नरेन्द्रश्च। उभौ यथाक्रमम्। आपीनमूधः। "ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः। आपीनस्य भारोद्वहने प्रयत्नात् प्रयासाद् वपुषो गुरुत्वादाधिक्याच्च। अञ्चिताभ्यां चारुभ्यां गताभ्यां गमनाभ्यां तपोवनादावृत्तेः पन्थास्तं तपोवनावृत्तिपथम् 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यनेन समासान्तोऽप्रत्ययः। अलञ्चक्रतुर्भूषितवन्तौ।

अ०—गृष्टिः, नरेन्द्रः, (च), उभौ, आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्, वपुषः, गुरुत्वाद् (च), अञ्चिताभ्यां, गताभ्यां तपोवनावृत्तिपथम्, अलञ्चक्रतुः।

वा०—गृष्ट्या नरेन्द्रेण चोभाभ्यां तपोवनावृत्तिपथोऽलञ्चक्रे।

सुधा—गृष्टिः=सकृत्प्रसूता नन्दिनी, नरेन्द्रः=राजा दिलीपः, चेति शेषः। उभौ= नन्दिनीदिलीपौ, यथाक्रममिति शेषः। आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात्=ऊधोभारधारणप्रयासाद्, वपुषः=देहस्य, गुरुत्वाद्=दुर्भरत्वात्, चेति शेषः। अञ्चिताभ्यां=पूजिताभ्यां, गताभ्यां=गमनाभ्यां, तपोवनावृत्तिपथम्=तपोयोग्यविपिनावर्त्तमार्गम्, अलञ्चक्रतुः=शोभितवन्तौ।

समा०—आपीनस्य भार आपीनभारः, आपीनभारस्योद्वहनमापीनभारोद्वहनम्

तस्मिन् प्रयत्न आपीनभारोद्वहनप्रयत्नस्तस्मादापीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् । गुरोर्भावो गुरुत्वं तस्माद् गुरुत्वात् । नरेष्विन्द्रो नरेन्द्रः, तपसो वनं तपोवनं तपोवनादावृत्तिस्तपोवनावृत्तिः; तस्याः पन्थास्तपोवनावृत्तिपथस्तं पूर्वोक्तम् ।

कोशः—'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः । 'पूजितेऽञ्चितः' इत्यमरः ।

ता०—नन्दिनी बृहदूधोभारवहनप्रयासाद्दिलीपश्च स्वशरीरस्य स्थौल्यादुभावपि मनोहरगमनाभ्यां तपोवनपरावर्त्तनमार्गं शोभितवन्तौ ।

इन्दुः—पहली बार की ब्याई हुई नन्दिनी और राजा दिलीप इन दोनों के क्रम से (नन्दिनी ने) स्तनों के भार के धारण करने में प्रयास करने तथा (राजा दिलीप ने) शरीर की स्थूलता के कारण अपने २ सुन्दर गमन से तपोवन से लौटने के मार्ग को सुशोभित किया ॥ १८ ॥

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ १९ ॥

सञ्जी०—वसिष्ठेति । वसिष्ठधेनोरनुयायिनमनुचरं वनान्तादावर्त्तमानं प्रत्यागतं तं दिलीपं वनिता सुदक्षिणा निमेषेष्वलसा मन्दा पक्ष्मणां पङ्क्तिर्यस्याः सा निर्निमेषा सतीत्यर्थः । लोचनाभ्यां करणाभ्याम् उपोषिताभ्यामिव उपवासो भोजननिवृत्तिस्तद्वद्भ्यामिव । वसतेः कर्त्तरि क्तः । पपौ । यथोपोषितोऽतितृष्णया जलमधिकं पिबति तद्वदतितृष्णयाऽधिकं व्यलोकयदित्यर्थः ।

अ०—वसिष्ठधेनोः अनुयायिनं, वनान्ताद्, आवर्त्तमानं तं, वनिता, निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः (सती), लोचनाभ्याम्, इव, पपौ । वा०—अनुयायी वनान्तादावर्तमानः स वनितया निमेषालसपक्ष्मपङ्क्त्या (सत्या) पपे ।

सुधा—वसिष्ठधेनोः=नन्दिन्याः, अनुयायिनम् = अनुचरम्, वनान्तात् = विपिनप्रान्ताद्, आवर्त्तमानम् = प्रत्यायान्तं, तं = दिलीपं, वनिता = महिला, सुदक्षिणा। निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः=निमीलननिष्क्रियनेत्रलोमावलिः, 'सती' लोचनाभ्यां=नयनाभ्याम् 'करणाभ्याम्' । उपोषिताभ्यां = गृहीतोपवासाभ्याम्, इव = यथा, पपौ = पीतवती, ददर्शेति भावः ।

समा०—अयमनयोरतिशयेन वसुमानिति वसिष्ठस्तस्य धेनुर्वसिष्ठधेनुस्तस्यास्तथोक्तायाः । वनस्यान्तो वनान्तः, तस्माद्वनान्तात् । निमेषेष्वलसा निमेषालसा पक्ष्मणां पङ्क्तिः पक्ष्मपङ्क्तिः निमेषालसा पक्ष्मपङ्क्तिर्यस्याः सा निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः

को०—'वनिता महिला तथा' इति । 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी' इति चामरः

ता०—यथा गृहीतोपवासाऽतितृष्णया काचिज्जलमत्यर्थं पिबति तथव सुदक्षिणा वनान्निवर्तमानं दिलीपं नेत्राभ्यां सतृष्णमधिकं निनिमेषं ददर्श ।

इन्दुः—वसिष्ठ महर्षि की नई ब्याई हुई नन्दिनी नाम की धेनु के पीछे-पीछे चलनेवाले तपोवन के प्रान्त भाग से लौटते हुए उन राजा दिलीप को स्नेह करने वाली रानी सुदक्षिणा ने नेत्र के बन्द करने में आलसी वरौनियों वाली होती हुई अर्थात् एक टक से) प्यासे की भाँति आंखों से पिया अर्थात् देखा ॥ १९ ॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥

सञ्जीविनी—पुरस्कृतेति । वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्या ईश्वरेण । 'तस्येश्वरः' इत्यण्प्रत्ययः । पुरस्कृताऽग्रतः कृता धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी धर्मार्थपत्नीत्यर्थः । अश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः । पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्योर्मध्ये । दिनक्षपयोर्दिनरात्र्योर्मध्यगता सन्ध्येव विरराज ।

अ०—वर्त्मनि, पार्थिवेन, पुरस्कृता, पार्थिवधर्मपत्न्या, प्रत्युद्गता, सा, धेनुः, तदन्तरे दिनक्षपामध्यगता, सन्ध्या, इव, विरराज ।

वा०—पुरस्कृतया प्रत्युद्गतया तया धेन्वा दिनक्षपामध्यगतया सन्ध्ययेव विरेजे ।

सुधा—वर्त्मनि=मार्गे, पार्थिवेन=पृथ्वीश्वरेण, दिलीपेन । पुरस्कृता=अग्रतः कृता, पार्थिवधर्मपत्न्या = पृथ्वीश्वरसुकृतार्थजायया, सुदक्षिणया । प्रत्युद्गता = स्वागतार्थमभ्युद्गता, सा = पूर्वोक्ता, धेनुः = गौः, नन्दिनीति यावत् । तदन्तरं=तयोर्मध्ये, सुदक्षिणादिलीपयोरन्तरालभागे स्थिता । दिनक्षपामध्यगता = दिवसरजन्यन्तःस्थिता, सन्ध्या = सायङ्कालः, इव = यथा, विरराज = शुशुभे ।

समा०—पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवस्तेन पार्थिवेन । धर्मस्य पत्नी, धर्मपत्नी, पार्थिवस्य धर्मपत्नी पार्थिवधर्मपत्नी तया तथोक्तया । तयोरन्तरं तदन्तरं तस्मिंस्तदन्तरे । दिनञ्च क्षपा चेति दिनक्षपे, तयोर्मध्यं दिनक्षपामध्यं, दिनक्षपामध्यङ्गता दिनक्षपामध्यगता ।

को०—'घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ' इति । 'निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा' इति चामरः ।

ता०—यस्मिन् समयेऽग्रेकृत्य नन्दिनीं दिलीपो वसिष्ठाश्रमं प्रापत् तदा दिलीपानुगम्यमानां तामानेतुं सुदक्षिणा तपोवनात्प्रत्युद्ययौ, तस्मिन् क्षणे, सुदक्षिणादिलीपयोर्मध्यगता नन्दिनी पाटलवर्णतया दिनक्षपयोर्मध्यगता सन्ध्येव शुशुभे ।

इन्दुः—मार्ग में राजा दिलीप द्वारा आगे की गई और उनकी पटरानी सुदक्षिणा से आगे जाकर ली हुई (अगवानी की गई) वह नन्दिनी सुदक्षिणा और दिलीप के बीच में दिन-रात के मध्य में स्थित सन्ध्याकाल की भांति शोभित हुई ॥ २० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥

सञ्जी०—प्रदक्षिणीकृत्येति। अक्षतानां पात्रेण सह वर्त्तेते इति साक्षतपात्रौ हस्तौ यस्याः सा सुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरां तां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च। अस्या धेन्वा विशालं शृङ्गमध्यम्। अर्थसिद्धेः कार्यसिद्धेर्द्वारं प्रवेशमार्गमिव, आनर्चार्चयामास।

अ०—साक्षतपात्रहस्ता, सुदक्षिणा, पयस्विनीं, तां, प्रदक्षिणीकृत्य, प्रणम्य, च, अस्याः, विशालं, शृङ्गान्तरम्, अर्थसिद्धेः, द्वारम्, इव, आनर्च।

वा०—साक्षतपात्रहस्तया सुदक्षिणया आनर्चे।

सुधा—साक्षतपात्रहस्ता = अखण्डतण्डुलभाण्डकरा, सुदक्षिणा = दिलीपपत्नी, पयस्विनीं=प्रशस्तक्षीरां, तां=नन्दिनीम्। प्रदक्षिणीकृत्य = अपसव्येन परितो भ्रमणं कृत्वा, प्रणम्य=प्रणामं कृत्वा, च=समुच्चयेऽर्थे, अस्याः = धेन्वाः, विशालं=विस्तीर्णम्, शृङ्गान्तरं = विषाणमध्यम्, अर्थसिद्धेः=प्रयोजननिष्पत्तेः, पुत्ररूपफलप्राप्तेरिति भावः। द्वारम् = अभ्युपायं, कारणमिति भावः। इव = यथा, आनर्च = पूजयामास।

समा०—प्रदक्षिणं कृत्वेति प्रदक्षिणीकृत्य। प्रशस्तं पयोऽस्त्यस्या इति पयस्विनी तां तथोक्ताम्। अक्षतानां पात्रमक्षतपात्रं, तेन सह वर्त्तेते यावितिं साक्षतपात्रौ साक्षतपात्रौ हस्तौ यस्याः सा साक्षतपात्रहस्ता। शृङ्गयोरन्तरं शृङ्गान्तरं तत्तथोक्तम्। अर्थस्य सिद्धिरर्थसिद्धिस्तस्या अर्थसिद्धेः।

को०—'विशङ्कटं पृथु बृहद्विशालं पृथुलं महत्' इत्यमरः। 'द्वारं निर्गमेऽभ्युपाये' इति हैमः।

ता०—सुदक्षिणा तां नन्दिनीं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च, अक्षतैः पुष्पादिभिश्च तस्याः शृङ्गान्तरप्रदेशं निजाभीष्टसिद्धेः कारणं मत्वा पूजयामास।

इन्दुः—अक्षतों से युक्त पात्र को हाथमें लिये रानी सुदक्षिणा ने उत्तम दूध वाली उस नन्दिनी की प्रदक्षिणा तथा वन्दना करके उसके चौड़े, दोनों सींगों के मध्यभाग का, पुत्रप्राप्तिरूप प्रयोजन सिद्ध होने के द्वार की भांति जानकर पूजन किया॥ २१॥

वत्सोत्सुकाऽपि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि॥ २२॥

सञ्जी०—वत्सोत्सुकाऽपीति। सा धेनुर्वत्सोत्सुकापि वत्सोत्कण्ठितापि स्तिमिता निश्चला सती सपर्यां पूजां प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ दम्पती ननन्दतुः। पूजास्वीकारस्यानन्दहेतुमाह-भक्त्येति। पूज्येष्वनुरागो भक्तिस्तयोपपन्नेषु युक्तेषु विषये तद्विधानां तस्या धेन्वा विधेव विधा प्रकारो येषां तेषाम् महतामित्यर्थः। प्रसादस्य चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारादीनि पुरःफलानि पुरोगतानि प्रत्यासन्नानि येषां तानि हि। अविलम्बितफलसूचकलिङ्गदर्शनादानन्दो युज्यत इत्यर्थः।

अ०—सा वत्सोत्सुका, अपि, स्तिमिता 'सती' सपर्यां, प्रत्यग्रहीत् इति तौ, ननन्दतुः, भक्त्या, उपपन्नेषु, तद्विधानां, प्रसादचिह्नानि, पुरःफलानि, हि।

वा०—तया वत्सोत्सुकया स्तिमितया सपर्या प्रत्यग्राहीति ताभ्यां ननन्दे, प्रसादचिह्नैः पुरःफलैर्हि भूयते ।

सुधा--सा = धेनुः, वत्सोत्सुका = तर्णकोत्सुका, अपिः=सम्भावनायां, स्तिमिता= निश्चला, सती । सपर्याम् = अर्चां, प्रत्यग्रहीत् = प्रतिजग्राह, इति=हेतोः, तौ=सुदक्षिणादिलीपौ, ननन्दतुः = मुमुदाते, भक्त्या=श्रद्धया, उपपन्नेषु=समन्वितेषु, तद्विधानां = तत्प्रकाराणां, प्रसादचिह्नानि = प्रसन्नतालक्ष्माणि, स्थिरतया पूजास्वीकरणादीनीति भावः । पुरःफलानि = आसन्नलाभवन्ति । हि = अवधारणे, सन्तीति शेषः ।

समा०--वत्से उत्सुका वत्सोत्सुका । सा च स च तौ । तस्या विधेव विधा प्रकारो येषान्ते तद्विधास्तेषां तद्विधानाम् ।

को०—'स्तिमितौ क्लिन्ननिश्चलौ' इत्यने० । 'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्याऽर्चाऽर्हणाः समाः' इत्यमरः ।

ता०--स्वीयवत्सदर्शनोत्कण्ठाऽन्वितायाः कामधेनुसुताया नन्दिन्याः सुस्थिरतया पूजाग्रहणेन तौ स्वकीयाभीष्टसिद्धिं झटित्येव भाविनीं मत्वा मुमुदाते ।

इन्दुः--नन्दिनी ने उस अपने बछड़े को देखने के लिए उत्कण्ठायुक्त होने पर भी स्थिर होते हुए 'सुदक्षिणा द्वारा किए गये' पूजन को स्वीकार किया । वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप प्रसन्न हुए । क्योंकि—अपने में अनुराग रखनेवाले जनों के विषय में नन्दिनी के समान बड़े लोगों की प्रसन्नता का चिह्न, निश्चय से शीघ्र अभीष्ट सिद्धि करने वाला होता है ॥ २२ ॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यञ्च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥ २३ ॥

सञ्जी०—गुरोरिति । भुजोच्छिन्नरिपुर्दिलीपः सदारस्य दारैररुन्धत्या सदा वर्त्तमानस्य गुरोः । उभयोरपीत्यर्थः । 'भार्या जायाऽथ पुम्भूम्नि दाराः' इत्यमरः । पादौ निपीड्याभिवन्द्य । सान्ध्यं सन्ध्यायां विहितं विधिमनुष्ठानं च समाप्य । दोहावसाने निषण्णामासीनां दोग्ध्रीं दोहनशीलाम् । 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः । धेनुमेव पुनर्भेजे सेवितवान् । दोग्ध्रीमिति निरुपपदप्रयोगात्कामधेनुत्वं गम्यते ।

अ०—भुजोच्छिन्नरिपुः, दिलीपः, सदारस्य, गुरोः, पादौ, निपीड्य, सान्ध्यं, विधिं, च समाप्य, दोहावसाने, निषण्णां, दोग्ध्रीम्, एव, पुनर् , भेजे ।

वा०—भुजोच्छिन्नरिपुणा दिलीपेन निषण्णा दोग्ध्र्येव पुनर्भेजे ।

सुधा०—भुजोच्छिन्नरिपुः = बाहुविनाशितशत्रुः, दिलीपः=तदाख्योऽयोध्याऽधिपतिः, सदारस्य=पत्नीसहितस्य, गुरोः=निषेकादिकृतः, वसिष्ठस्येति यावत् । पादौ= चरणौ, निपीड्य=संवाह्य, सान्ध्यं=सन्ध्याकालिकं, विधिं=ब्रह्मचिन्तनादिकं विधानं, चः=अन्वाचये, समाप्य=विधाय, दोहावसाने=दुग्धदोहनान्ते, निषण्णाम्=उपविष्टाम्, दोग्ध्रीं = धेनुं, नन्दिनीम् । एव=अवधारणे, पुनः = द्वितीयवारम्, भेजे = सिषेवे ।

समा०—दारैः सहितः सदारस्तस्य सदारस्य। सन्ध्यायां भवः सान्ध्यस्त सान्ध्यम्। दोहस्यावसानं दोहावसानं तस्मिंस्तथोक्ते। दोग्धीति दोग्ध्री तां दोग्ध्रीम्। भुजाभ्यामुच्छिन्ना भुजोच्छिन्नास्ते रिपवो येन स भुजोच्छिन्नरिपुः।

को०—'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इति 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इति चामरः।

ता०—सपत्नीको दिलीपः सपत्नीकस्य वसिष्ठमहर्षेश्चरणसंवाहनं कृत्वा कृतसायन्तनकृत्यः पुनरेव नन्दिन्याः परिचर्यां कृतवान् कण्डूयनादिभिः।

इन्दुः—बाहुओं से शत्रुओं को नष्ट करने वाले राजा दिलीप पत्नीसहित गुरु का चरण दबाकर, अपने सायङ्कालिक नित्यकृत्य समाप्त करने के पश्चात्, दूध दुह चुकने के बाद सुखपूर्वक बैठी हुई नन्दिनी की फिर सेवा करने लगे॥ २३॥

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत्॥ २४॥

सञ्जी०—तामिति। गोप्ता रक्षको गृहिणीसहायः। पत्नीद्वितीयः सन्। उभावपीत्यर्थः। अन्तिके न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्तां तथोक्तां पूर्वोक्तां निषण्णां धेनुमन्वास्यानूपविश्य क्रमेण सुप्तामन्वनन्तरं संविवेश सुष्वाप। प्रातः सुप्तोत्थितामनूदतिष्ठदुत्थितवान्। अत्रानुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौर्वापर्यमुच्यते, क्रमशब्देन धेनुव्यापाराणामेवेत्यपौनरुक्त्यम्। 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इति द्वितीया।

अ०—गोप्ता, गृहिणीसहायः (सन्), अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां, ताम्, अन्वास्य, क्रमेण, सुप्ताम्, अनुसंविवेश, प्रातः, सुप्तोत्थिताम्, अनु, उदतिष्ठत्।

वा०—गोप्त्रा गृहिणीसहायेन सुप्ताऽनुसंविविशे, उदस्थीयत।

सुधा—गोप्ता = रक्षिता दिलीपः, गृहिणीसहायः = भार्याऽनुचरः। अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां = समीपस्थापितोपहारदीपां, ताम् = निषण्णां नन्दिनीम्। अन्वास्य = पश्चादुपविश्य, क्रमेण = अनुक्रमेण, सुप्तां = निद्रिताम्, अनु = पश्चात्, संविवेश = शिश्ये, प्रातः = प्रभाते, सुप्तोत्थितां = शयितविनिद्रिताम्, अनु पश्चाद्, उदतिष्ठत् = उत्तस्थौ।

समा०—अन्तिके न्यस्ता अन्तिकन्यस्ताः, बलेः प्रदीपा बलिप्रदीपा अन्तिकन्यस्ता बलिप्रदीपा यस्याः साऽन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपा तां तथोक्ताम्। गृहिणी सहायो यस्यासौ गृहिणीसहायः 'आदौ' सुप्ता 'पश्चाद्' उत्थिता सुप्तोत्थिता तां तथोक्ताम्।

को०—'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इति। 'दीपः प्रदीप' इति। 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इति चामरः।

ता०—सपत्नीको राजा दिलीपः समीपस्थापितपूजादीपायास्तस्याः पश्चाद्भागे, समुपविश्य, ततः सुप्तायां नन्दिन्यां सत्यां तदनु स्वयं सपत्नीकोऽपि सुष्वाप, ततः प्रातःकाल उत्थितायां तस्यां तदनूदतिष्ठत।

इन्दुः—रक्षा करनेवाले, सुदक्षिणा के सहित राजा दिलीप, जिसके समीप में उपहारसम्बन्धी दीप रखे गये हैं ऐसी उस बैठी हुई नन्दिनी के पश्चात् बैठकर क्रम से

उस (नन्दिनी) के सोने के अनन्तर सोये और प्रातःकाल उसके सोकर उठ जाने के बाद उठे ॥ २४ ॥

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजाऽर्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्या दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥

सञ्जी०—इत्थमिति । इत्थमनेन प्रकारेण प्रजाऽर्थं सन्तानाय महिष्या सममभिषिक्तपत्न्या सह । 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः । व्रतं धारयतः, महनीया पूज्या कीर्त्तिर्यस्य तस्य, दीनानामुद्धरणं दैन्यविमोचनं तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य नृपस्य, त्रयो गुणा आवृत्तयो येषां तानि त्रिगुणानि त्रिरावृत्तानि सप्त दिनान्येकविंशतिदिनानि व्यतीयुः ।

अ०—इत्थं प्रजाऽर्थं महिष्या, समं, व्रतं, धारयतः महनीयकीर्त्तेः, दीनोद्धरणोचितस्य, तस्य, त्रिगुणानि, सप्तदिनानि, व्यतीयुः । वा०—सप्तभिस्त्रिगुणैर्दिनैर्व्यतीये ।

सुधा—इत्थम् = अनेन प्रकारेण, प्रजार्थं = सन्ततिप्रयोजनकम्, महिष्या=कृताभिषेकया पत्न्या सुदक्षिणया, समं = सार्धं, व्रतं = नियमं, धारयतः = दधतः, महनीयकीर्तेः = प्रशस्ययशसः, दीनोद्धरणोचितस्य = दीनजनरक्षणतत्परस्य, तस्य = दिलीपस्य, त्रिगुणानि = त्रिरावृत्तानि, सप्त = सप्तसङ्ख्यकानि, दिनानि = दिवसानि, एकविंशतिदिनानीति भावः । व्यतीयुः = व्यतिचक्रमुः ।

स०—प्रजैवार्थः प्रयोजनं यस्य तत् प्रजाऽर्थं तत्तथोक्तम् । महनीया कीर्त्तिर्यस्यासौ महनीयकीर्त्तिस्तस्य महनीयकीर्तेः । दीनानामुद्धरणं दीनोद्धरणं तत्रोचितो दीनोद्धरणोचितस्तस्य तथोक्तस्य ।

को०—'साकं सार्धं समं सह' इत्यमरः । 'उचितं तु भवे न्यस्ते मिते ज्ञाते समञ्जसे' इति मे० ।

ता०—एवं महिष्या सार्धं नन्दिनीपरिचर्यात्मकं नियमं कुर्वतस्तस्य दिलीपस्यैकविंशतिदिनानि व्यतीतानि ।

इन्दुः—इस प्रकार पुत्र के लिए महारानी सुदक्षिणा के साथ नियम को धारण करते हुए प्रशंसनीय कीर्तिवाले दीनों के उद्धार करने में लगे हुए महाराज दिलीप के तिगुने सात (इक्कीस) दिन बीत गये ॥ २५ ॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥ २६ ॥

स०—अन्येद्युरिति । अन्येद्युरन्यस्मिन्दिने द्वाविंशे दिने । 'सद्यःपरुत्परारि०' इत्यादिना निपातनादव्ययत्वम् । 'अद्यात्राह्न्यथ पूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात् । तथाऽधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयः' इत्यमरः । मुनिहोमधेनुः । आत्मानुचरस्य भावमभिप्रायं दृढभक्तित्वम् । 'भावोऽभिप्राय आशयः' इति यादवः । जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदे शानच् । प्रपतन्त्यस्मिन्निति प्रपातः पतनप्रदेशः गङ्गायाः प्रपातस्तस्यान्ते समीपे विरूढानि जातानि शष्पाणि बाल-

तृणानि यस्मिंस्तत्। 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः। गौरीगुरोः पार्वतीपितुर्गह्वर गुहामाविवेश।

अ०—अन्येद्युः, मुनिहोमधेनुः, आत्मानुचरस्य, भावं, जिज्ञासमाना, गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं, गौरीगुरोः, गह्वरम्, आविवेश।

वा०—मुनिहोमधेन्वा जिज्ञासमानया गौरीगुरोर्गह्वरमाविविशे।

सुधा—अन्येद्युः = अन्यस्मिन् दिने, द्वाविंशे दिवस इति भावः। मुनिहोमधेनुः= वसिष्ठमहर्षेर्हवनसामग्रीसम्पादिका नन्दिनी, आत्मानुचरस्य = स्वपश्चाद्यायिनः, दिलीपस्य। भावम् = आशयं भक्तिम्। जिज्ञासमाना = ज्ञातुमिच्छन्ती, गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं = सुरनिम्नगाप्रवाहपतननिकटोत्पन्नबालतृणं, गौरीगुरोः = हिमालयाख्यपर्वतस्य, गह्वरं = देवखातबिलम्, आविवेश = आविशत्।

स०—आत्मनोऽनुचर आत्मानुचरस्तस्य तथोक्तस्य। ज्ञातुमिच्छतीति जिज्ञासत इति जिज्ञासमाना। होमस्य धेनुर्होमधेनुः मुनेर्होमधेनुर्मुनिहोमधेनुः गङ्गायाः प्रपातो गङ्गाप्रपातः, तस्यान्तो गङ्गाप्रपातान्तः, तत्र विरूढानि गङ्गाप्रपातान्तविरूढानि शष्पाणि यत्र तद् गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं तत्तथोक्तम्। गौर्या गुरुर्गौरीगुरुस्तस्य गौरीगुरोः।

को०—'प्रपातो निर्झरे भृगौ। अवटे पतने कच्छे' इति हैमः, 'देवखातबिले गुहा, गह्वरम्' इत्यमरः।

ता०—द्वाविंशे दिवसे धेनुर्दिलीपस्य दृढभक्तिपरीक्षार्थं हिमालयस्य गुहाप्रवेशमकरोत्।

इन्दुः—दूसरे (बाइसवें) दिन वसिष्ठ की होमसम्बन्धी धेनु (नन्दिनी) अपने सेवक राजा दिलीप के 'मुझ में दृढ भक्ति है या नहीं' इस भाव को जानने की इच्छा रखती हुई गङ्गा के वारिप्रवाह के समीप उगी हुई है छोटी-छोटी घास जिसमें ऐसे पार्वती के पिता (हिमालय) की गुफा में घुसी ॥ २६ ॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥

सञ्जी०—सेति। सा धेनुः हिंस्रैर्व्याघ्रादिभिर्मनसाऽपि दुष्प्रधर्षा दुर्धर्षेति हेतोरद्रिशोभायां प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेणालक्षिताभ्युत्पतनमाभिमुख्येनोत्पतनं यस्य स सिंहस्तां धेनुं प्रसह्य हठात्। 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः। चकर्ष। किलेत्यलीके।

अ०—सा, हिंस्रैः, मनसा, अपि, दुष्प्रधर्षा, इति, अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन, नृपेण, अलक्षिताभ्युत्पतनः, सिंहः, प्रसह्य, चकर्ष, किल।

वा०—तया दुष्प्रधर्षया 'भूयते' अलक्षिताभ्युत्पतनेन सिंहेन सा चकृषे।

सुधा—सा = नन्दिनी। हिंस्रैः = घातुकैः, व्याघ्रादिभिः, मनसा=मानसेन, अपि= सम्भावनायां, दुष्प्रधर्षा = दुर्धर्षा, इति=हेतोः, अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन = शैलच्छवि-

समर्पितनयनेन, नृपेण=राज्ञा, दिलीपेन । अलक्षिताभ्युत्पतनः=अदृष्टाभिमुखाक्रमणः, सिंहः=केसरी, तां=धेनुम् । प्रसह्य=हठात्, चकर्ष=कृष्टवान्, किल=अलीके ।

समा०—अद्रेः शोभाऽद्रिशोभा तत्र प्रहिते अद्रिशोभाप्रहिते अद्रिशोभाप्रहिते ईक्षणे येन सोऽद्रिशोभाप्रहितेक्षणस्तेन तथोक्तेन । न लक्षितमभ्युत्पतनं यस्य सोऽलक्षिताभ्युत्पतनः ।

को०—'शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः' इति । 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इति सर्वत्राप्यमरः । 'वार्तायामरुचौ किल' इति त्रिकाण्डकोषः ।

ता०—दिलीपे हिमालयशोभादर्शनासक्तमनसि सति नन्दिनीमायारचितः सिंहस्तां धेनुमकार्क्षीत् ।

इन्दुः—'वह नन्दिनी हिंसक व्याघ्रादि दुष्ट जीवों द्वारा मन से भी बड़ी कठिनाई से कष्ट पहुँचाने के योग्य है' इस कारण निश्चिन्त हो हिमालय की शोभा देखने में दृष्टि को लगाये हुए राजा दिलीप के द्वारा जिसका आक्रमण करना नहीं देखा गया ऐसा मायाकृत सिंह हठात् उस नन्दिनी को बनावटी ढङ्ग से फाड़ने लगा ॥ २७ ॥

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥

सञ्जी०—तदीयमिति । गुहानिबद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घम् । तस्या इदं तदीयम् । आक्रन्दितमार्तघोषणम् आर्तेषु विपन्नेषु साधोर्हितकारिणो नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिम् । रश्मिषु प्रग्रहेषु 'करणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । आदायेव, गृहीत्वेव निवर्तयामास ।

अ०—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं, तदीयम्, आक्रन्दितम्, आर्त्तसाधोः, नृपस्य नगेन्द्रसक्तां, दृष्टिं, रश्मिषु, आदाय, इव, निवर्तयामास ।

वा०-गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घेण तदीयेन क्रन्दितेन नगेन्द्रसक्ता दृष्टिर्निवर्तयाञ्चक्रे।

सुधा०—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं=गह्वरप्रतिहतप्रतिनिनादायतं, तदीयं=तत्सम्बन्धि, नन्दिन्याः । आक्रन्दितम्=उच्चैरुदितम्, आर्त्तसाधोः=विपन्नविपन्निवारकस्य, नृपस्य=राज्ञो दिलीपस्य । नगेन्द्रसक्तां=शैलराजशोभादर्शनलग्नां, दृष्टिं=नेत्रं, रश्मिषु=प्रग्रहेषु, आदाय=गृहीत्वा, इव=यथा, निवर्त्तयामास=न्यवर्त्तयत् ।

समा०—आर्त्तेषु साधुरार्त्तसाधुस्तस्यार्त्तसाधोः । गुहायां निबद्धो गुहानिबद्धः, गुहानिबद्धश्चासौ प्रतिशब्दः गुहानिबद्धप्रतिशब्दस्तेन दीर्घं गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् । नगेष्विन्द्रो नगेन्द्रस्तत्र सक्ता तां तथोक्ताम् ।

को०—'शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः' इति । 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इति चामरः ।

ता०—सिंहाक्रमणेन गुहायां प्रतिहतेन प्रतिध्वनिना दीर्घं नन्दिन्या आक्रन्दनं

शैलशोभादर्शनसक्तां दिलीपदृष्टिं यथा हयादीन् रश्मिषु गृहीत्वा सारथिर्निवर्त्तयति तथैव निवर्त्तयामास ।

इन्दुः—गुफा में टकराई हुई प्रतिध्वनि से ऊँचे हुए उस (नन्दिनी) के आर्त्त-नाद ने दुःखियों के विषय में सज्जन (रक्षक) राजा दिलीप की हिमालय पर्वत (की शोभा देखने) में लगी हुई दृष्टि को लगाम पकड़कर जैसे कोई घोड़े आदि को फेरता है वैसे ही अपनी ओर फेर लिया ॥ २८ ॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥

सञ्जी०—स इति । धनुर्धरः स नृपः पाटलायां रक्तवर्णायां गवि तस्थिवांसं स्थितम्, 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः । केसरिणं सिंहम् । सानुमतोऽद्रेः । धातोर्गैरिकस्य विकारो धातुमयी तस्यामधित्यकायामूर्ध्वभूमौ 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः । प्रफुल्लो विकसितस्तम् । 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचाद्यच् । 'प्रफुल्तम्' इति तकारपाठे 'ञिफला विशरणे' इति धातोः कर्त्तरि क्तः 'ति च' इत्युदादेशः । लोध्राख्यं द्रुममिव ददर्श ।

अ०—धनुर्धरः, सः, पाटलायां, गवि, तस्थिवांसं, केसरिणं, सानुमतः, धातुमय्याम्, अधित्यकायाम्, प्रफुल्लं, लोध्रद्रुमम्, इव, ददर्श ।

वा०—धनुर्धरेण तेन तस्थिवान् केसरी प्रफुल्लो लोध्रद्रुम इव ददृशे ।

सुधा—धनुर्धरः = धानुष्कः, सः = राजा दिलीपः । पाटलायां = श्वेतरक्तायां, गवि = सौरभेय्याम्, तस्थिवांसं = स्थितम् । केसरिणं = सिंहं, सानुमतः=पर्वतस्य, धातुमय्यां = गैरिकवत्याम्, अधित्यकायाम्=ऊर्ध्वभूमौ, प्रफुल्लं=स्फुटं, लोध्रद्रुमं = तिल्ववृक्षम्, इव = यथा, ददर्श = अपश्यत् ।

समा०—धनुषो धरो धनुर्धरः । धातोर्गैरिकस्य विकारो धातुमयी तस्यां धातुमय्याम् । लोध्रश्चासौ द्रुमस्तं लोध्रद्रुमम् । सानूनि सन्त्यस्येति सानुमांस्तस्य सानुमतः ।

को०—'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इति । 'धन्वी धनुष्मान् धानुष्को निषङ्ग्यस्त्री धनुर्धरः' इति । 'स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्' इति । 'प्रफुल्लोत्फुल्लसंफुल्लव्याकोशविकचस्फुटाः । फुल्लश्चैते विकसिते' इति चामरः ।

ता०—दिलीपः श्वेतरक्तवर्णायां नन्दिन्यामाक्रम्य स्थितं सिंहं पर्वतस्य गैरिकमय्यामूर्ध्वभूमौ विकसितं लोध्रवृक्षमिवापश्यत् ।

इन्दुः—धनुष को धारण करनेवाले उन राजा दिलीप ने श्वेतयुक्त लालवर्ण वाली नन्दिनी के ऊपर बैठे हुए सिंह को पर्वत की गैरिक धातुमयी ऊँची भूमि में उगे हुए लोध्रवृक्ष की भांति देखा ॥ २९ ॥

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः ॥ ३० ॥

सञ्जी०—तत इति । ततः सिंहदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी सिंहगामी 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । 'शरणं रक्षणे गृहे' इति यादवः । शरणे साधुः शरण्यः । 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । प्रसभेन बलात्कारेणोद्धृता अरयो येन स नृपती राजा जाताभिषङ्गो जातपराभवः सन् । 'अभिषङ्गः पराभवः' इत्यमरः । वध्यस्य वधार्हस्य । 'दण्डादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः । मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात्तूणीरात् । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः । शरमुद्धर्तुमैच्छत् ।

अ०—ततः, मृगेन्द्रगामी, शरण्यः, प्रसभोद्धृतारिः, नृपतिः, जाताभिषङ्गः, 'सन्' वध्यस्य, मृगेन्द्रस्य, वधाय, निषङ्गात्, शरम्, उद्धर्तुम्, ऐच्छत् ।

वा०—मृगेन्द्रगामिना शरण्येन प्रसभोद्धृतारिणा नृपतिना जाताभिषङ्गेण 'सता' शर उद्धर्तुमैष्यत ।

सुधा—ततः=सिंहदर्शनानन्तरम्, मृगेन्द्रगामी=केसरिगमनशीलः, शरण्यः=रक्षणसाधुः, प्रसभोद्धृतारिः=हठोत्क्षिप्तशत्रुः, नृपतिः=नराधिपः, दिलीपः । जाताभिषङ्गः=उत्पन्नपराभवः, 'सन्' वध्यस्य=शीर्षच्छेद्यस्य, मृगेन्द्रस्य=सिंहस्य, वधाय=घाताय, निषङ्गात्=इषुधेः, शरं=बाणम्, उद्धर्तुम्=उत्क्षेप्तुम्, ऐच्छत्=इयेष ।

समा०—मृगेष्विन्द्रो मृगेन्द्रस्तस्य मृगेन्द्रस्य । मृगेन्द्र इव गच्छतीति मृगेन्द्रगामी । वधमर्हतीति वध्यस्तस्य वध्यस्य । जातोऽभिषङ्गो यस्य स जाताभिषङ्गः । प्रसभेनोद्धृताः प्रसभोद्धृताः, प्रसभोद्धृताः, अरयो येन सः प्रसभोद्धृतारिः ।

कोशः—'पृषत्कबाणविशिखा अजिह्मगखगाशुगाः । कलम्बमार्गणशराः पत्त्री रोप इषुर्द्वयोः' इति । 'प्रसभं तु बलात्कारो, हठः' इति चामरः ।

ता०—राजा दिलीपः सिंहाक्रान्तनन्दिनीं दृष्ट्वा तद्रक्षितुः स्वस्य च पराभवं मत्वा तत्क्षण एव सिंहवधार्थं तूणीराद् बाणमुद्धर्तुमैच्छत् ।

इन्दुः—सिंह के दर्शन के बाद मृगेन्द्र की तरह चलनेवाले, रक्षा करने में निपुण, शत्रुओं को बलपूर्वक उखाड़ने वाले, अपमान पाये हुए, राजा दिलीप ने सिंह को मारने के लिये तरकस से बाण निकालने की इच्छा की ॥ ३० ॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्त्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—वामेतर इति । प्रहर्त्तुस्तस्य वामेतरो दक्षिणः करः । नखप्रभाभिर्भूषितानि विच्छुरितानि कङ्कस्य पक्षिविशेषस्य पत्राणि यस्य तस्मिन् । 'कङ्कः पक्षिविशेषे स्याद् गुप्ताकारे युधिष्ठिरे' इति विश्वः । 'कङ्कस्तु कर्कट' इति यादवः । सायकस्य पुङ्ख एव कर्त्तर्याख्ये मूलप्रदेशे । 'कर्त्तरिः पुङ्खे' इति यादवः । सक्ताङ्गुलिः सन् । चित्रार्पितारम्भश्चित्रलिखितशरोद्धरणोद्योग इव अवतस्थे ।

अ०—प्रहर्तुः, तस्य, वामेतरः, करः, नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे, सायकपुङ्खे, एव सक्ताङ्गुलिः, 'सन्' चित्रार्पितारम्भः, इव, अवतस्थे।

वा०—वामेतरेण करेण सक्ताङ्गुलिना चित्रार्पितारम्भेणेवावतस्थे।

सुधा०—प्रहर्त्तुः = ताडयितुः, तस्य = दिलीपस्य, वामेतरः=दक्षिणः, करः=हस्तः, नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे = नखरत्विण्मण्डितलोहपृष्ठपक्षे, सायकपुङ्खे = शरमूले, एव= अवधारणे, सक्ताङ्गुलिः = प्रसक्तकरशाखः, 'सन्' चित्रार्पितारम्भः = आलेख्यलिखितशरनिष्कासनोद्योगः, इव = यथा, अवतस्थे = स्थितोऽभूत्।

स०—वामादितरो वामेतरः। नखानां प्रभा नखप्रभाः, ताभिर्भूषितानि, नखप्रभाभूषितानि, कङ्कस्य पत्राणि कङ्कपत्राणि नखप्रभाभूषितानि कङ्कपत्राणि यस्य स नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रस्तथोक्ते। सक्ता अङ्गुलयो यस्य स सक्ताङ्गुलिः। सायकस्य पुङ्खः सायकपुङ्खस्तस्मिंस्तथोक्ते। चित्रेऽर्पितश्चित्रार्पितः, चित्रार्पित आरम्भो यस्य स चित्रार्पितारम्भः।

को०—'वामः सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे' इति विश्वः। 'इतरस्त्वन्य नीचयोः' इति। 'बलिहस्तांशवः कराः' इति चामरः।

ता०—प्रजिहीर्षया निषङ्गाद्बाणमुद्धर्त्तुकामस्य दिलीपस्य बाणमूलसक्ताङ्गुलिः सन् दक्षिणहस्तश्चित्रलिखितशरोद्धरणोद्यम इव तस्थौ।

इन्दुः—प्रहार करने वाले उन राजा दिलीप का दाहिना हाथ, अपने नख की कान्ति से भूषित, कङ्क पक्षी के पङ्ख जिसमें लगे हुए हैं ऐसे बाण के मूलप्रदेश में ही लगी हुई है अङ्गुलियाँ जिसकी ऐसा होता हुआ, चित्र में लिखे हुए बाण निकालने के उद्योग में लगे हुए की भाँति हो गया॥ २१॥

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः॥ २२॥

सञ्जी०—बाहुप्रतिष्टम्भेति। बाह्वोः प्रतिष्टम्भेन प्रतिबन्धेन। 'प्रतिबन्धः प्रतिष्टम्भः' इत्यमरः। विवृद्धमन्युः प्रवृद्धरोषो राजा। मन्त्रौषधिभ्यां रुद्धवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी सर्प इव 'भोगी राजभुजङ्गयोः' इति शाश्वतः। अभ्यर्णमन्तिकम्। 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्'इत्यमरः। आगस्कृतमपराधकारिणमस्पृशद्भिः स्वतेजोभिरन्तरदह्यत। 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि' इति यादवः।

अ०—बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः, राजा, मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः, भोगी, इव, अभ्यर्णम्, आगस्कृतम्, अस्पृशद्भिः, स्वतेजोभिः, अन्तर्, अदह्यत।

वा०—बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युं राजानम् मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यं भोगिनमिवाभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशन्ति स्वतेजांस्यन्तरदहन्।

सुधा०—बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः=भुजप्रतिबन्धरुद्धक्रोधः, राजा=दिलीपः, मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः=सर्पविषशामकमन्त्रभैषज्यसंवीतपराक्रमः, भोगी=भुजङ्गः, इव=यथा,

अभ्यर्णम् = उपकण्ठम्, आगस्कृतम् = अपराधकारिणम्, अस्पृशद्भिः = अनामृशद्भिः, स्वतेजोभिः = आत्मप्रभावैः, अन्तः = मध्ये, अदह्यत = अतप्यत ।

समा०—बाह्वोः प्रतिष्टम्भो बाहुप्रतिष्टम्भः तेन विवृद्धो बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धः, बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धो मन्युर्यस्यासौ बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः । आगः करोतीत्यागस्कृत् तमागस्कृतम् । स्वस्य तेजांसि स्वतेजांसि तैः स्वतेजोभिः । मन्त्रश्चौषधिश्चेति मन्त्रौषधी ताभ्यां रुद्धम् मन्त्रौषधिरुद्धम्, मन्त्रौषधिरुद्धं वीर्यं यस्यासौ मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ।

कोशः—'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इति । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इति । 'वीर्यं बले प्रभावे च' इति चामरः

ता०—बाहुस्तम्भेन प्रवृद्धरोषो दिलीपः समीपस्थमप्यपराधकारिणं सिंहं हन्तुमसमर्थो मन्त्रौषधिसंरुद्धपराक्रमः सर्प इव स्वतेजोभिरतप्यत ।

इन्दुः—हाथके रुक जानेसे बढ़े हुए क्रोधवाले, राजा दिलीप, मन्त्र और औषधि से बाँध दिया गया है पराक्रम जिसका ऐसे सांप की भांति समीप में (स्थित) अपराधों को करने वाले का नहीं स्पर्श करते हुए अपने तेजसे भीतर जलने लगे ॥

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥३३॥

सञ्जी०—तमिति । निगृहीता पीडिता धेनुर्येन स सिंहः । आर्याणां सतां गृह्यं पक्ष्यम् 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति क्यप् । मनुवंशस्य केतुं चिह्नं केतुवद्व्यावर्तकम् । सिंह इवोरुसत्त्वो महाबलस्तम् । आत्मनो वृत्तौ बाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वाद्विस्मितम् । कर्तरि क्तः । तं दिलीपं मनुष्यवाचा कारणेन पुनर्विस्माययन्विस्मयमाश्चर्यं प्रापयन्निजगाद । 'स्मिङ् ईषद्धसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृप्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् 'विस्मापयन्' इति पाठे पुगागममात्रं वक्तव्यम् । तच्च 'नित्यं स्मयतेः' इति हेतुभयविवक्षायामेवेति 'भीस्म्योर्हेतुभये' इत्यात्मनेपदे 'विस्मापयमान' इति स्यात् । तस्मान्मनुष्यवाचा विस्माययन्निति शुद्धम् । करणविवक्षायां न कश्चिद्दोषः ।

अ०—निगृहीतधेनुः, सिंहः, आर्यगृह्यं, मनुवंशकेतुं, सिंहोरुसत्त्वम्, आत्मवृत्तौ, विस्मितं, तं, मनुष्यवाचा, विस्माययन् निजगाद । वा०—निगृहीतधेनुना, सिंहेनार्यगृह्यो मनुवंशकेतुः सिंहोरुसत्त्वो विस्मितः स विस्माययता निजगदे ।

सुधा—निगृहीतधेनुः = पीडितनन्दिनीकः, सिंहः = केसरी, आर्यगृह्यं = सज्जनपक्षपातशीलम्, मनुवंशकेतुं = वैवस्वतमनुकुललक्षणं, मनुकुलशेखरम्, सिंहोरुसत्त्वं = केसरिविपुलबलम्, आत्मवृत्तौ = निजबाहुस्तम्भरूपव्यापारे, विस्मितम् = आश्चर्यितं, तं = दिलीपं, मनुष्यवाचा = नरवचसा, करणे तृतीया बोध्या । पुनरिति शेषः । विस्माययन् = विस्मितं सम्पादयन्, निजगाद = अवोचत् ।

समा०—आर्याणां गृह्य आर्यगृह्यस्तं तथोक्तम् । निगृहीता धेनुर्येन स निगृहीतः धेनुः, मनुष्यस्य वाग्, मनुष्यवाक् तया मनुष्यवाचा। मनोर्वंशो मनुवंशस्तस्य केतुर्मनुवंशकेतुस्तं मनुवंशकेतुम् । आत्मनो वृत्तिरात्मवृत्तिस्तस्यां तथोक्तायाम्। सिंहस्येव उरु सत्त्वं यस्य स सिंहोरुसत्त्वस्तं तथोक्तम् ।

कोशः—'गृह्यं गुदे ग्रन्थभेदे क्लीबं शाखापुरे स्त्रियाम् । गृहासक्तमृगादौ ना, त्रिषु चास्वैरिपक्षययोः' इति मेदिनी । 'वड्रोरुविपुलम्' इत्यमरः ।

ता०—सिंहो बाहुस्तम्भरूपे व्यापारे परमाश्चर्यितं दिलीपं मनुष्यवाचा पुनरपि ततोऽधिकं विस्मयमापयन्नुवाच ।

इन्दुः—नन्दिनी को पीडित किया हुआ सिंह सज्जनों के पक्ष में रहनेवाले मनु वंश के द्योतक सिंह के समान महान् बलवान् अपने बाहुस्तम्भरूप व्यापार के विषय में चकित हुए उन राजा दिलीप को मनुष्यवाणी से पुनः चकित कराता हुआ बोला ॥ ३३ ॥

अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—अलमिति । हे महीपाल ! तव श्रमेणालम् । साध्याभावाच्छ्रमो न कर्त्तव्य इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया श्रमस्य कारणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्द्योते (न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं करणभावस्य । अपि तर्हि गम्यमानाऽपि) इति । 'अथ भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । इतोऽस्मिन्मयि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रयुक्तमप्यस्त्रं वृथा स्यात् । तथाहि— पादपोन्मूलने शक्तिर्यस्य तत्तथोक्तं, मारुतस्य रंहो वेगः, शिलोच्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ।

अ०—महीपाल !, तव, श्रमेण, अलम्, इतः, प्रयुक्तम् अपि, अस्त्रं, वृथा, स्यात्, पादपोन्मूलनशक्ति, मारुतस्य, रंहः, शिलोच्चये न, मूर्च्छति ।

वा०—प्रयुक्तेनाप्यस्त्रेण वृथा भूयेत, पादपोन्मूलनशक्तिना रंहसा न मूर्च्छ्यते ।

सुधा—महीपाल != पृथ्वीपते, तव = भवतः, श्रमेण=प्रयासेन, अलं = वारणार्थकोऽयम् तवास्त्रमोचनं श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः। 'कुतः' इतः = अस्मिन्, मयि । प्रयुक्तम् = प्रहृतम्, अपि = सम्भावनायाम्, अस्त्रम्=आयुधं, वृथा = निरर्थकं, स्यात्= भवेत्, तथाहीति शेषः । पादपोन्मूलनशक्ति = वृक्षोत्पाटनसमर्थम्, मारुतस्य = पवनस्य, रंहः = वेगः, शिलोच्चये = शैले, न=नहि, मूर्च्छति=वर्धते ।

समा०—महीं पालयतीति महीपालस्तत्सम्बुद्धौ हे महीपाल ! पादपानामुन्मूलनं पादपोन्मूलनं तत्र शक्तिर्यस्य तत् पादपोन्मूलनशक्ति । शिलाभिरुच्चीयत इति शिलोच्चयस्तस्मिंस्तथोक्ते ।

कोशः—'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इति चामरः ।

ता०—हे पृथ्वीपते ! मयि रुद्रानुचरे बाणमोचनं प्रयासेन ते साध्यं नास्ति किञ्च प्रयुक्तोऽपि शरस्तथैव वृथा भविष्यति यथा पर्वते वायुवेगो विफलो भवति ।

इन्दुः—हे पृथ्वी के पालन करनेवाले महाराज दिलीप ! आपका श्रम करना वृथा है, अतः रहने दीजिये क्योंकि— मेरे ऊपर चलाया हुआ अस्त्र भी वैसा ही व्यर्थ होगा जैसा कि पेड़ों को उखाड़ने की शक्ति रखने वाले वायु को वेग पर्वतके विषय में व्यर्थ होता है ॥ ३४ ॥

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—कैलासेति । कैलास इव गौरः शुभ्रस्तम् । 'चामीकरं च शुभ्रं च गौरमाहुर्मनीषिणः' इति शाश्वतः । वृषं वृषभमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोः । स्वस्योपरि पदं निक्षिप्य वृषमारोहतीत्यर्थः । अष्टौ मूर्त्तयो यस्य सः, तस्याष्टमूर्त्तेः शिवस्य पादार्पणं पादन्यासस्तदेवानुग्रहः प्रसादस्तेन पूतं पृष्ठं यस्य तं तथोक्तम् । निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं मामवेहि विद्धि । 'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च । सूर्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्टमूर्त्तयः' इति यादवः ।

अ०—कैलासगौरं वृषम्, आरुरुक्षोः, अष्टमूर्तेः, पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठं, निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम, किङ्करम्, माम्, अवेहि ।

वा०—पादार्पणनुग्रहपूतपृष्ठो निकुम्भमित्रं कुम्भोदरः किङ्करोऽहमवेये 'त्वया' ।

सुधा०—कैलासगौरं = रजताद्रिश्वेतं, वृषभम्, = ऋषभम्, आरुरुक्षोः = आरोहणं कर्तुमिच्छोः, अष्टमूर्तेः = उमापतेः, पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् = अङ्घ्रिदानाभ्युपपत्तिपवित्रपृष्ठदेशम्, निकुम्भमित्रं = निकुम्भाख्यशिवानुचरसुहृदं, कुम्भोदरं, = कुम्भोदरेत्याख्यं, नाम = प्रसिद्धौ, 'कुम्भोदर' इति नाम्ना प्रसिद्धमिति भावः । किङ्करम् = परिचारकं, मां = सिंहम्, अवेहि = विद्धि ।

समा०—कैलास इव गौर इति कैलासगौरस्तं कैलासगौरम् । आरोढुमिच्छतीत्यारुरुक्षुस्तस्यारुरुक्षोः । पादयोरर्पणं पादार्पणं तदेवानुग्रहः पादार्पणानुग्रहस्तेन पूतं पादार्पणानुग्रहपूतं तत् पृष्ठं यस्य स पादार्पणानुग्रहस्तं पूर्वोक्तम् । निकुम्भस्य मित्रं निकुम्भमित्रं तत्तथोक्तम् । अष्टौ मूर्तयो यस्यासावष्टमूर्त्तिस्तस्याष्टमूर्तेः ।

कोशः—'नियोज्यकिङ्करप्रैष्यभुजिष्यपरिचारकाः' इति । 'नाम प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इति चामरः ।

ता०—श्वेतवृषभोपरि सर्वदाऽऽरोहणं कर्त्तुमिच्छोः शिवस्य पादस्थापनेन पवित्रपृष्ठभागं निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम रुद्रानुचरं मां विद्धि ।

इन्दुः—हे राजन् ! कैलासपर्वत के तुल्य श्वेत बैल पर चढ़ने की इच्छा करने वाली आठ (पृथ्वी–जल–तेज–वायु–आकाश–सूर्य–चन्द्र–सोमयाजी) हैं मूर्त्तियां जिनकी ऐसे शिवजी के चरण रखने रूप अनुग्रह से पवित्र पीठवाला, निकुम्भ (शिवजी का प्रसिद्ध गण) का मित्र, 'कुम्भोदर' नाम से प्रसिद्ध 'शिवजी का' नौकर मुझे तुम जानो ॥ ३५ ॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥ ३६॥

स०—अमुमिति। 'पुरोऽग्रतोऽमुं देवदारुं पश्यसि' इति काकुः। असौ देवदारुः। वृषभो ध्वजो यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः पुत्रत्वेन स्वीकृतः। अभूततद्भावे च्विः। यो देवदारुः स्कन्दस्य मातुर्गौर्या हेम्नः कुम्भ एव स्तनस्तस्मान्निःसृतानां पयसामम्बूनां रसज्ञः, स्कन्दपक्षे—हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः। पयसां क्षीराणाम्। 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः। स्कन्दसमानप्रेमास्पदमिति भावः।

अ०—पुरः, अमुं देवदारुं, पश्यसि, असौ, वृषभध्वजेन, पुत्रीकृतः, यः, स्कन्दस्य मातुः, हेमकुम्भस्तननिःसृतानां पयसां, रसज्ञः 'अस्ति'। वा०—असौ देवदारुः त्वया दृश्यते, अमुं वृषभध्वजः पुत्रीकृतवान्, येन रसज्ञेन भूयते।

सुधा—पुरः = अग्रे, अमुम् = एतं, देवदारुं = पारिभद्रं, पश्यसि = आलोकसे, असौ = एषः, देवदारुः। वृषभध्वजेन = रुद्रेण, पुत्रीकृतः = पुत्रतयाऽङ्गीकृतः। यः = देवदारुतरुः, स्कन्दस्य = षडाननस्य, मातुः = जनन्याः, हेमकुम्भस्तननिःसृतानां = स्वर्णघटकुचनिर्गतानां, देवदारुपक्षे-पयसाम् = अम्बूनां, स्कन्दपक्षे-पयसां = क्षीराणां, रसज्ञः = स्वादविद्, अस्तीति शेषः।

स०—अपुत्रः पुत्रः कृत इति पुत्रीकृतः, वृषभो ध्वजश्चिह्नमस्येति वृषभध्वजस्तेन वृषभध्वजेन। हेम्नः कुम्भो हेमकुम्भः, देवदारुपक्षे-हेमकुम्भ एव स्तनः, स्कन्दपक्षे-हेमकुम्भौ इव स्तनौ हेमकुम्भस्तनौ, तस्मान्निःसृतानि हेमकुम्भस्तननिःसृतानि तेषां तथोक्तानाम्। रसं जानातीति रसज्ञः।

कोशः—'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्' इत्यमरः। 'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः।' इति विश्वः।

ता०—हे राजन्! असौ देवदारुः पार्वत्या स्वपयसा सेचितोऽस्मादेष पार्वतीशिवयोः स्कन्दतुल्यप्रेमभाजनमस्ति।

इन्दुः—हे राजन्! तुम जो आगे स्थित इस देवदारु के वृक्षको देख रहे हो इसे शङ्करजी ने पुत्रभाव से माना है और जो कार्त्तिकेय की मां पार्वती जी के सोने के घटरूपी स्तनों से निकले हुए दूधरूपी जल के स्वाद का जाननेवाला है, स्कन्दपक्ष में सोने के घड़े के समान स्तनों से निकले हुए दूध के स्वाद का जाननेवाला है॥ ३६॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः॥ ३७॥

सञ्जी०—कण्डूयेति। कदाचित्कटं कपोलं कण्डूयमानेन घर्षयता। 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इति यक्, ततः शानच्। वन्यद्विपेनास्य देवदारोस्त्वगुन्मथिता। अथाद्रेस्तनया गौरी, असुरास्त्रैरालीढं क्षतम्। सेनां नयतीति सेनानीः स्कन्दः। 'पार्वती-

तीनन्दनः स्कन्दः सेनानीः' इत्यमरः । 'सत्सूद्विष०' इत्यादिना क्विप् । तमिव, एनं देवदारुं शुशोच ।

अ०—कदाचित्, कटं, कण्डूयमानेन, वन्यद्विपेन, अस्य, त्वग्, उन्मथिता, अथ, अद्रेः, तनया, असुरास्त्रैः, आलीढं, सेनान्यम्, इव, एनं, शुशोच ।

वा०—कण्डूयमानो वन्याद्विपोऽस्य त्वचमुन्मथितवानथाद्रेस्तनययाऽसुरास्त्रैरालीढः सेनानीरिवैष शुशुचे ।

सुधा—कदाचित् = जातु, कटं = गण्डं, कण्डूयमानेन = घर्षणं कुर्वता, वन्यद्विपेन = वनोद्भवगजेन, अस्य = एतस्य, देवदारुतरोः त्वग् = वल्कलम्, उन्मथिता = उत्पाटिता, अथ = पाश्चाद्, अद्रेः = हिमाचलस्य, तनया = सुता, पार्वती, असुरास्त्रैः = दैत्यायुधैः, आलीढम् = क्षतम्, सेनान्यं = स्कन्दम्, इव = यथा, एनं = देवदारुतरुम्, शुशोच = विषसाद ।

समा०—वन्यश्चासौ द्विपो वन्यद्विपस्तेन वन्यद्विपेन । असुराणामस्त्राण्यसुरास्त्राणि तैरसुरास्त्रैः ।

कोशः—'गण्डः कटः' इत्यमरः ।

ता०—कस्मिंश्चित्समये केनापि वन्यगजेनास्य देवदारुतरो रक्षकाभावाद्वल्कलमुत्पाटितं तदुपश्रुत्य दैत्यानामस्त्रैः क्षते स्कन्दे स्वतनये यथा विषादमाप पार्वती तथैवातिशयमेनं शुशोच ।

इन्दुः—किसी सयय गण्डस्थल को रगड़ते हुए किसी जङ्गली हाथी ने इस देवदारुवृक्ष की छाल उधेड़ डाली, इसके बाद पार्वतीजी ने दैत्यों के अस्त्रों से चोटें खाये हुए अपने पुत्र स्कन्द के समान इसके सम्बन्ध में भी शोक किया ॥ ३७ ॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—तदेति । तदा तत्कालः प्रभृतिरादिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं भयार्थं शूलभृता शिवेन, अङ्कं समीपमागताः प्राप्ताः सत्त्वाः प्राणिनो वृत्तिर्यस्मिंस्तत् 'अङ्कः समीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशवः । सिंहत्वं विधाय । अस्मिन्नद्रिकुक्षौ गुहायामहं व्यापारितो नियुक्तः ।

अ०—तदाप्रभृति, एव, वनद्विपानां, त्रासाऽर्थं, शूलभृता, अङ्कागतसत्त्ववृत्ति, सिंहत्वं, विधाय, अस्मिन्, अद्रिकुक्षौ, अहं, व्यापारितः ।

वा०—शूलभृद् मां व्यापारितवान् ।

सुधा—तदाप्रभृति = तदानींतनकालादारभ्य, एव = अवधारणे, वनद्विपानां = काननगजानां, त्रासार्थं = भयप्रयोजनकं, शूलभृता = शिवेन । अङ्कागतसत्त्ववृत्ति = समीपप्राप्तजन्तुजीवनं, सिंहत्वं = केसरित्वं, विधाय = कृत्वा, अस्मिन् = एतस्मिन्, अद्रिकुक्षौ = अचलोदरे, गुहायाम् । अहं = सिंहः, व्यापारितः = स्थापितः ।

समा०—वनस्य द्विपा वनद्विपास्तेषां वनद्विपानाम् । अद्रेः कुक्षिरित्यद्रिकुक्षिस्तस्मिन्नद्रिकुक्षौ, अङ्कमागताः, अङ्कागताः, अङ्कागताश्च ते सत्त्वा अङ्कागतसत्त्वाः, अङ्कागतसत्त्वा वृत्तिर्यस्मिंस्तदङ्कागतसत्त्ववृत्ति तत्तथोक्तम् ।

कोशः—'वृत्तिर्वर्त्तनजीवने' इत्यमरः ।

ता०—तत्कालादारभ्यैव शिवेन वन्यगजानां भयदर्शनार्थमस्यां गिरिगुहायां नियोजितोऽहं तदादेशात्समीपागतानेव जन्तून् भक्षयन् कालं यापयामि ।

इन्दुः—उसी समय से जङ्गली हाथियों को डराने के लिये, शूल के धारण करने वाले श्रीशिवजी ने समीप में आये हुए प्राणियों पर निर्वाह करानेवाली सिंहवृत्ति देकर मुझे इस पहाड़ की गुफा में नियुक्त किया है ॥ ३८ ॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—तस्येति । परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टकालो भोजनवेला यस्याः सोपस्थिता प्राप्तैषा गोरूपा शोणितपारणा रुधिरस्य व्रतान्तभोजनं, सुरद्विषो राहोः, चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी सुधेव, क्षुधितस्य बुभुक्षितस्य तस्याङ्कागतसत्त्ववृत्तेर्मम सिंहस्य तृप्त्यै अलं पर्याप्ता । 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी ।

अ०—परमेश्वरेण, प्रदिष्टकाला, उपस्थिता, एषा, शोणितपारणा, सुरद्विषः, चान्द्रमसी, सुधा, इव, क्षुधितस्य, मे तृप्त्यै, अलम् 'अस्ति' ।

वा०—प्रदिष्टकालयोपस्थितयैतया शोणितपारणया सुरद्विषश्चान्द्रमस्या सुधयेव क्षुधितस्य मे तृप्त्यै अलं 'भूयते' ।

सुधा०—परमेश्वरेण महादेवेन, प्रदिष्टकला=निर्दिष्टसमया, उपस्थिता=प्राप्ता, एषा=असौ, धेनुरूपा, शोणितपारणा=रक्तव्रतान्ताशनं, सुरद्विषः=दैत्यस्य, राहोः। चान्द्रमसी=ऐन्दवी, सुधा=अमृतम्, इव=यथा, क्षुधितस्य=बुभुक्षायुक्तस्य, तस्य=समीपागतप्राणिमात्रजीविकावतः, मे=मम, सिंहस्य । तृप्त्यै=सौहित्याय, अलम्=पर्याप्ता ।

समा०—प्रदिष्टः कालो यस्याः सा प्रदिष्टकाला । शोणितस्य पारणा शोणितपारणा । सुरान् द्वेष्टीति सुरद्विट् तस्य सुरद्विषः ।

को०—'ईश्वरः स्वामिनी शिवे मन्मथेऽपीश्वराऽद्रिजा' इति । 'रुधिरेऽसृग्लोहितास्त्ररक्तक्षतजशोणितम्' इति चानेकार्थसंग्रहामरौ ।

ता०—चिरकालाद् बुभुक्षितस्याङ्कागतप्राणिवृत्त्या जीवनं यापयतो मे सम्यग् बुभुक्षानिवृत्तये स्वयमत्र प्राप्ता एषा गोरूपा शोणितपारणा राहोश्चन्द्रसम्बन्धि पीयूषमिव पर्याप्ता भविष्यति ।

इन्दुः—शिवजी के बताये हुये भोजन के समय पर उपस्थित यह गोरूप रुधिर सम्बन्धी व्रत के समाप्तिसमय का भोजन दैत्य राहु के लिए चन्द्रसम्बन्धी अमृत की

भांति, उसको अर्थात् समीप में आये हुए प्राणियों को खाकर जीवननिर्वाह करनेवाले भूखे हुए मुझ सिंह की तृप्ति के लिए पर्याप्त (पूरा) होगा ॥ ३९ ॥

स त्वं निवर्त्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणाति ॥ ४० ॥

सञ्जी०—स त्वमिति । स एवमुपायशून्यस्त्वं लज्जां विहाय निवर्त्तस्व । भवांस्त्वं गुरोर्दर्शिता प्रकाशिता शिष्यस्य कर्त्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽस्ति । ननु गुरुधनं विनाश्य कथं तत्समीपं गच्छेयमत आह=शस्त्रेणेति । यद्रक्ष्यं धनं शस्त्रेणायुधेन । 'शस्त्रमायुधलोहयोः' इत्यमरः । अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थः । तद्रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृतां यशो न क्षिणोति न हिनस्ति । अशक्यार्थेष्वप्रतिविधानं न दोषायेति भावः

अ०—सः, त्वं, लज्जां, विहाय, निवर्त्तस्व, भवान् गुरोः, दर्शितशिष्यभक्तिः अस्ति, यद्, रक्ष्यं, शस्त्रेण, अशक्यरक्षं, तद्, शस्त्रभृतां, यशः, न क्षिणोति ।

वा०—तेन त्वया निवृत्यतां, भवता गुरोर्दर्शितशिष्यभक्तिना 'भूयते' येन रक्ष्येण शस्त्रेणाशक्यरक्षेण 'भूयते' तेन शस्त्रभृतां यशो न क्षीयते ।

सुधा—सः=बाहुस्तम्भतया किङ्कर्त्तव्यविमूढः, त्वं=भवान्, लज्जां=त्रपां, विहाय=त्यक्त्वा, निवर्त्तस्व=निवृत्तो भव, भवान्=त्वं, गुरोः=वसिष्ठस्य । दर्शितशिष्यभक्तिः=प्रकाशीकृतच्छात्रश्रद्धः, अस्तीति शेषः । यत्=किञ्चित्, अनिर्दिष्टं वस्त्विति भावः । रक्ष्यं=पाल्यं, धनादिकमिति भावः । शस्त्रेण=बाणादिना, अशक्यरक्षम्=अपारणीयरक्षणं, तत्=रक्ष्यं, धनादिकम् । शस्त्रभृताम्=आयुधधारिणां, यशः=कीर्तिं, न=नहि, क्षिणोति=हिनस्ति ।

स०—शिष्यस्य भक्तिः शिष्यभक्तिः, दर्शिता शिष्यभक्तिर्येन स तथोक्तः । न शक्येत्यशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षम् ।

को०—'भक्तिः सेवागौणवृत्त्योर्भङ्ग्यां श्रद्धाविभागयोः' इत्यनेकार्थसंग्रहः ।

ता०—हे राजन् बाहुस्तम्भतया मद्वधे निरुपायस्त्वं लज्जां विहाय स्वाश्रमं याहि, अपि च यद्रक्षणीयं वस्तु शस्त्रेण रक्षणार्हं न भवति, तद्रक्ष्यं वस्तु नष्टं सदपि शस्त्रधारिणां यशो न नाशयति, अतस्तव निजाश्रमगमनेन न कोऽपि दोष इति भावः ।

इन्दुः—उपाय से शून्य पूर्वोक्त तुम लज्जा को छोड़कर लौट जाओ । तुमने गुरु के सम्बन्ध में शिष्यों के योग्य भक्ति दिखला दी । जो रक्षा करने योग्य वस्तु शास्त्र से रक्षा करने के योग्य नहीं होती वह नष्ट होती हुई भी शस्त्रधारी की कीर्ति को नष्ट नहीं करती ॥ ४० ॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—इतीति। पुरुषाणामधिराजो नृप इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचो निशम्य श्रुत्वा गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावात्प्रत्याहतास्त्रः कुण्ठितास्त्रः सन्नात्मनि विषये, ऽवज्ञामपमानं शिथिलीचकार। तत्याजेत्यर्थः। अवज्ञातोऽहमिति निर्वेदं न प्रापेत्यर्थः। समानेषु हि क्षत्रियाणामभिमानो न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः।

अ०—पुरुषाधिराजः, इति, प्रगल्भं, मृगाधिराजस्य, वचः, निशम्य, गिरिशप्रभावात्, प्रत्याहतास्त्रः, 'सन्' आत्मनि, अवज्ञां शिथिलीचकार।

वा०—पुरुषाधिराजेन प्रत्याहतास्त्रेण 'सता' आत्मन्यवज्ञा शिथिलीचक्रे।

सुधा—पुरुषाधिराजः = पुरुषाधिपः, दिलीपः। इति = स्वरूपेऽर्थेऽव्ययम्, उक्तप्रकारकमिति भावः। प्रगल्भं = धृष्टं, मृगाधिराजस्य = सिंहस्य, वचः = वचनं निशम्य = आकर्ण्य, गिरिशप्रभावात् = शङ्करतेजसः, प्रत्याहतास्त्रः = रुद्धशस्त्रः सन्निति शेषः। आत्मनि = स्वस्मिन्, अवज्ञाम् = अवहेलनं शिथिलीचकार = जहौ

स०—अधिको राजाऽधिराजः, पुरुषाणामधिराजः पुरुषाधिराजः। मृगाणामधिराजो मृगाधिराजस्तस्य मृगाधिराजस्य। प्रत्याहतमस्त्रं यस्यासौ प्रत्याहतास्त्रः। गिरिशस्य प्रभावो गिरिशप्रभावस्तस्माद् गिरिशप्रभावात्।

को०—'रीढाऽवमाननावज्ञाऽवहेलनमसूर्क्षणम्' इत्यमरः।

ता०—सिंहस्य वचः श्रुत्वा दिलीपो भगवतः शङ्करस्य प्रभावात् स्वबाहोः स्तम्भं ज्ञात्वा, तज्जन्यमपानं तत्याज।

इन्दुः०—नराधिप दिलीप ने इस प्रकार से ढीठ सिंह के वचन को सुनकर शङ्कर के प्रभाव से अपने अस्त्र की गति रुकी हुई जानकर अपने विषय में अपमान के भाव को शिथिल कर दिया अपना अपमान नहीं समझा ॥ ४ ॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—प्रतीति। स एव पूर्वः प्रथमो भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिंस्तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नो विफलप्रयासः। अतएव वज्रं कुलिशं मुमुक्षन्मोक्तुमिच्छन्। अम्बकं लोचनम्। 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षीणि' इति हलायुधः। त्रीण्यम्बकानि यस्य स त्र्यम्बको हरः, तस्य वीक्षणेन जडीकृतः निष्पन्दीकृतः। वज्रं पाणौ यस्य स वज्रपाणिरिन्द्रः। 'प्रहणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्' इति पाणेः सप्तम्यन्तस्योत्तरनिपातः। स इव स्थितो नृप एनं सिंहं प्रत्यब्रवीच्च (बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत्प्रभुः) इति महाभारते।

अ०—तत्पूर्वभङ्गे, इषुप्रयोगे, वितथप्रयत्नः, 'अत एव' वज्रं, मुमुक्षन्, त्र्यम्बकवीक्षणेन, जडीकृतः, वज्रपाणिः, इव, 'स्थितो नृपः' एनं, प्रत्यब्रवीत्, च।

वा०—वितथप्रयत्नेन वज्रं मुमुक्षता जडीकृतेन वज्रपाणिनेव नृप प्रत्यौच्यत।

सुधा—तत्पूर्वभङ्गे = तत्प्रथमबाहुस्तम्भरूपपराजये, इषुप्रयोगे = बाणप्रयुक्तौ,

वितथप्रयत्नः = निष्फलप्रयासः 'अत एव' वज्रं = कुलिशं, मुमुक्षन् = उत्सिसृक्षन्, त्र्यम्बकवीक्षणेन = त्रिनयनविलोकनेन, जडीकृतः, निश्चेष्टीकृतः, वज्रपाणिः = इन्द्रः, इव = यथा, स्थितो नृप इति शेषः । एनं = सिंहम्, प्रत्यब्रवीत् = प्रत्यवोचत् ।

समा०—इषोः प्रयोग इषुप्रयोगस्तस्मिन्निषुप्रयोगे । विगतं तथा सत्त्वं यस्मात्स वितथः प्रयत्नो यस्य स वितथप्रयत्नः । न जडोऽजडः, अजडो जडः सम्पद्यमान इति जडीकृतः । त्र्यम्बकस्य वीक्षणं त्र्यम्बकवीक्षणं तेन तथोक्तेन ।

को०—'ह्रादिनी वज्रमस्त्री स्यात् कुलिशं भिदुरं पविः' इत्यमरः ।

ता०—बाणमोक्षणे निष्फलप्रयत्नो महेश्वरवीक्षणेन निश्चेष्टीकृतो वज्रं प्रहर्त्तुमिच्छन् सुरराडिव स्थितो दिलीप एनं सिंहं प्रत्युवाच ।

इन्दुः—पहले पहल यहीं है रुकावट जिसकी ऐसे बाण के चलाने में निष्फल प्रयत्न वाले अत एव शंकर भगवान् के देखने से ही निश्चेष्ट किये हुए वज्र का प्रहार करने की इच्छा करने वाले वज्र है हाथ में जिसके ऐसे इन्द्र के समान स्थित राजा दिलीप इस सिंह के प्रत्युत्तर में बोले ॥ ४२ ॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र ! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—संरुद्धचेष्टस्येति । मृगेन्द्र ! संरुद्धचेष्टस्य प्रतिबद्धव्यापारस्य मम तद्वचो वाक्यं कामं हास्यं परिहसनीयं, यद्वचः 'स त्वं मदीयेन' (२।४५) इत्यादिकमहं विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरस्मि । तर्हि तूष्णीं स्थीयतामित्याशङ्क्येश्वरकिङ्करत्वात्सर्वज्ञं त्वां प्रति न हास्यमित्याह = अन्तरिति । हि यतो भवान्प्राणभृतामन्तर्गतं हृद्गतं वाग्वृत्त्या बहिरप्रकाशितमेव सर्वं भावं वेद वेत्ति । 'विदो लटो वा' इति णलादेशः । अतोऽभिधास्ये वक्ष्यामि । वच इति प्रकृतं कर्म सम्बध्यते । अन्ये त्वीदृग्वचनमाकर्ण्यासम्भावितार्थमेतदित्युपहसन्ति, अतस्तु मौनमेव भूषणम् त्वं तु वाङ्मनसयोरेकविध एवायमिति जानासि । अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽहं विवक्षुरित्यर्थः ।

अ०—'हे मृगेन्द्र ! 'संरुद्धचेष्टस्य, मम' तत्, वचः, कामं हास्यम्, 'अस्ति' यद् 'वचः' अहं, विवक्षुः, 'अस्मि' हि, भवान्, प्राणभृताम्, अन्तर्गतं, सर्वं, भावं, वेद, अतः, अभिधास्ये । वा०—तेन वचसा हास्येन 'भूयते' मया विवक्षुणा 'भूयते' अन्तर्गतः सर्वो भावो भवता विद्यतेऽतोऽभिधास्यते ।

सुधा—मृगेन्द्र = हे सिंह ! संरुद्धचेष्टस्य = करसञ्चलनादिचेष्टाशून्यस्य, मम । तद् = अग्रे उच्यमानं, वचः = वचनं, कामं = प्रकामम्, हास्यं=परिहासार्हम् । अस्तीति शेषः । यद्=वचः, अहं=दिलीपः, विवक्षुः=वक्तुमिच्छुः, अस्मीति शेषः । हि=यतः, भवान् = त्वं, प्राणभृताम् = जीवानाम्, अन्तर्गतं = हृद्गतम्, सर्वं = सम्पूर्णं, भावम् = अभिप्रायं, वेद=जानाति, अतः=अस्मात् कारणाद् अभिधास्ये=कथयिष्यामि ।

समा०—संरुद्धा चेष्टा यस्य स संरुद्धचेष्टस्तस्य। हसितुं योग्यं हास्यम्। वक्तु मिच्छुर्विवक्षुः। प्राणान् बिभ्रतीति प्राणभृतस्तेषां प्राणभृताम्।

को०—'कामं प्रकामं पर्याप्तम्' इत्यमरः।

ता०—हे सिंह! निरुद्धकरचलनादिव्यापारस्य मम वचो यद्यपि परिपूर्णतयोप हासयोग्यमस्ति तथापि भवतो जन्तूनां हृद्गतसकलभावाभिज्ञतया सम्प्रति वक्ष्ये।

इन्दुः—हे सिंह! यद्यपि रुकी हुई है चेष्टा जिसकी, ऐसे मुझ दिलीप का वह वचन अत्यन्त परिहास करने के योग्य है, जिसे मैं कहने की इच्छा करनेवाला हो रहा हूँ तथापि आप सभी जीवों के हृदय के भाव जानते हैं, इससे कहूँगा॥ ४३॥

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्॥ ४४॥

सञ्जी०—मान्य इति। प्रत्यवहारः प्रलयः। स्थावराणां तरुशैलादीनां जङ्गमाना मनुष्यादीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः स ईश्वरो मे मम मान्यः पूज्यः। अलङ्घ्य शासन इत्यर्थः। शासनं च 'सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति' (२।२८) इत्युक्तरूपम्। तर्हि विसृज्य गम्यताम्। नेत्याह—गुरोरपीति। पुरस्तादग्रे नश्यदिदमाहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनुपेक्षणीयम्। आहिताग्नेरिति विशेषणेनानुपेक्षाकारणं हविः साधकत्वं सूचयति।

अ०—स्थावरजङ्गमानां, सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः, सः, मे, मान्यः, पुरस्तात्, नश्यत्, इदम्, आहिताग्नेः, धनम्, अपि, अनुपेक्षणीयम्। वा०—सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुना तेन मे मान्येन 'भूयते' पुरस्ताद् नश्यताऽनेन धनेनाप्युपेक्षणीयेन 'भूयते'

सुधा—स्थावरजङ्गमानां=जङ्गमेतरचराणाम्, पादपपर्वतादिनरप्रभृतीनामिति भावः, सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः=उत्पत्तिपालननाशकारणम्, सः=ईश्वरः, मे=मम, दिलीपस्य। मान्यः=पूज्यः, अस्तीति शेषः। पुरस्तात्=अग्रे, नश्यत्=नाशं गच्छत् इदम्=एतत्, अग्रे दृश्यमानमिति भावः। आहिताग्नेः=कृताग्निहोत्रस्य, गुरोः= वसिष्ठस्य, धनम्=गोधनम्, अपि=समुच्चये' अनुपेक्षणीयम्=उपेक्षाऽनर्हम्।

समा०—स्थावराश्च जङ्गमाश्चेति स्थावरजङ्गमास्तेषां स्थावरजङ्गमानाम्। प्रत्यवह्रियन्तेऽत्र प्रत्यवहारः, सर्गश्च स्थितिश्च प्रत्यवहारश्चेति सर्गस्थितिप्रत्यवहाराः, तेषु हेतु सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः। आहितोऽग्निर्येन स आहिताग्निस्तस्याहिताग्नेः। उपेक्षितुं योग्यमुपेक्षणीयं न उपेक्षणीयमनुपेक्षणीयम्।

को०—'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इति। धनं वित्ते च गोधने' इति चामरमेदिन्यौ।

ता०—सकलजगदुद्भवस्थित्यन्तकारणं स भगवान् शिवो मे पूज्योऽत एव तदीयानुशासनस्य सर्वथाऽनुल्लङ्घनीयत्वमस्ति, तथा च गुरोरपि नश्यदिदं गोरूपं धनं नोपेक्षणार्हमस्ति।

इन्दुः—स्थावर (वृक्ष-पर्वत-आदि) और जङ्गमों (मनुष्यादिकों) की उत्पत्ति, पालन और संहार करने में कारण वे श्रीशिवजी मेरे पूज्य हैं (अर्थात् उनकी आज्ञा माननीय है) और आगे नष्ट होता हुआ यह अग्निहोत्र करने वाले गुरु वसिष्ठ महाराज का गोरूप धन भी उपेक्षा करनेके योग्य नहीं है (अर्थात् इसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ४४ ॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्त्तयितुं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—स इति । सोऽङ्कागतसत्त्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवनं निर्वर्त्तयितुं सम्पादयितुं प्रसीद । दिनावसाने उत्सुको 'माता समागमिष्यती' त्युत्कण्ठितो बालवत्सो यस्याः सा महर्षेरियं धेनुर्विसृज्यताम् ।

अ०—सः, त्वं, मदीयेन, देहेन, शरीरवृत्तिं, निर्वर्तयितुं, प्रसीद, दिनावसानोत्सुकबालवत्सा, महर्षेः, इयं, धेनुः, विसृज्यताम् । वा०—तेन त्वया मदीयेन देहेन शरीरवृत्तिं निर्वर्त्तयितुं प्रसद्यतां, दिनावसानोत्सुकबालवत्सां महर्षेरिमां धेनुं विसृज ।

सुधा०—सः = अङ्कागतप्राणिवृत्तिः, त्वं = भवान्, मदीयेन = मामकेन, देहेन = शरीरेण, शरीरवृत्तिं = देहजीवनं, निर्वर्त्तयितुं = निष्पादयितुं, प्रसीद = अनुगृहाण, दिनावसानोत्सुकबालवत्सा = दिवससमाप्त्युत्कण्ठितशिशुतरणका, महर्षेः = वसिष्ठस्य, इयम् = एषा, धेनुः = गौर्नन्दिनी, विसृज्यताम् ।

समा०—ममायं मदीयस्तेन मदीयेन । शरीरस्य वृत्तिः शरीरवृत्तिस्तां शरीरवृत्तिम् । दिनस्यावसानं दिनावसानं तत्रोत्सुको दिनावसानोत्सुकः, बालश्चासौ वत्सो बालवत्सः, दिनावसानोत्सुको बालवत्सो यस्याः सा दिनावसानोत्सुकबालवत्सा ।

को०—'वृत्तिर्वर्त्तनजीवने' इति । 'सातिस्त्ववसाने स्यात्' इति चामरः ।

ता०—त्वं मदीयेन देहेन बुभुक्षाशान्तिं कृत्वा मह्यं प्रसीद इमां धेनुं मुञ्च, यतोऽस्या उत्कण्ठितो बालवत्स आश्रमे बद्धो बुभुक्षित आस्ते ।

इन्दुः—समीप में आये हुए प्राणियों पर अपना जीवन निर्वाह करनेवाले (ऐसे) तुम मेरे शरीर से अपने शरीर का जीवन रखने के लिये अनुग्रह करो, (गौके बदले मुझे खा लो) और दिन के समाप्त होने पर 'हमारी माँ आती होगी' इससे उत्कण्ठित छोटे बछड़े वाली महर्षि वसिष्ठ की इस धेनु 'नन्दिनी' को छोड़ो ॥ ४५ ॥

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्त्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्यनुचरः स सिंहो गिरेर्गह्वराणां गुहानाम् । 'देवखातबिले गुहा । गह्वरम्' इत्यमरः । अन्धकारं ध्वान्तं दंष्ट्रामयूखैः,

शकलानि खण्डानि कुर्वन्। निरस्यन्नित्यर्थः। किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं नृपं भूयो बभाषे। हस्यकारणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' इति वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम्।

अ०—अथ, भूतेश्वरपार्श्ववर्त्ती, सः, गिरिगह्वराणाम्, अन्धकारं, दंष्ट्रामयूखैः शकलानि, कुर्वन्, किञ्चिद्, विहस्य, अर्थपतिं, भूयः, बभाषे।

वा०—अथ भूतेश्वरपार्श्ववर्त्तिना तेन कुर्वताऽर्थपतिर्भूयो बभाषे।

सुधा०—अथ = अनन्तरं, भूतेश्वरपार्श्ववर्त्ती=गिरीशसमीपस्थायी, सः=कुम्भोदर नामा सिंहः, गिरिह्वराणां=पर्वतगुहानां, हिमालयपर्वतस्याकृत्रिमे विल इति भावः अन्धकारं = तिमिरं, दंष्ट्रामयूखैः = निशितदन्तकिरणैः, शकलानि=खण्डानि, कुर्वन्ः विदधत्, दूरीकुर्वन्निति यावत्। किञ्चित् = स्वल्पं, विहस्य = स्मितं कृत्वा, अर्थपतिंः द्रविणस्वामिनं, राजानं दिलीपमिति यावत्। भूयः = पुना, बभाषे = उवाच।

समा०—गिरेर्गह्वराणि गिरिगह्वराणि तेषां गिरिगह्वराणाम्। दशन्त्येभिरिति दंष्ट्रास्तासां मयूखा दंष्ट्रामयूखास्तैर्दंष्ट्रामयूखैः। भूतानामीश्वरो भूतेश्वरः, पार्श्वयोः वर्त्तितुं शीलमस्येति पार्श्ववर्त्ती भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्ती भूतेश्वरपार्श्ववर्त्ती।

कोशः—'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' इत्यमरः। 'भूयाँस्त्रिषु बहुतरे पुनरर्थे त्वदोऽव्ययम्' इति मेदिनी।

ता०—गवार्थे स्वतनुं परित्यक्तुमुद्यतं नृपं दृष्ट्वा सिंहः पुनरपि किञ्चिद् विहस्य तं प्रत्युवाच।

इन्दुः०--दिलीप के कह चुकने के बाद भगवान् शङ्कर के पास का रहने वाला वह सिंह हिमालय पर्वत की गुफाओं के अन्धकार को दाँतों की कान्ति से टुकड़े-टुकड़े करता हुआ कुछ हँसकर दिलीप से फिर बोला ॥ ४६ ॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—एकातपत्रमिति। एकातपत्रमेकच्छत्रं जगतः प्रभुत्वं स्वामित्वम्। नवं वयो यौवनम्। इदं कान्तं रम्यं वपुश्च। इत्येव बहु अल्पस्य हेतोरल्पेन कारणेन, अल्पफलायेत्यर्थः। 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी। हातुं त्यक्तुमिच्छंस्त्वं विचारे कार्यकार्यविमर्शे मूढो मूर्खो मे मम प्रतिभासि।

अ०—एकातपत्रं, जगतः, प्रभुत्वं, नवं, वयः, इदं, कान्तं वपुः, च एतत्सर्वं' बहु अल्पस्य; हेतोः हातुम्, इच्छन्, त्वं, विचारमूढः, मे प्रतिभासि।

वा०—हातुमिच्छता त्वया विचारमूढेन मे प्रातिभायते।

सुधा—एकातपत्रम् = अद्वितीयच्छत्रम्, जगतः = लोकस्य प्रभुत्वं = स्वमित्वं, नवं = नवीनं, वयः = अवस्था, इदम् = एतद्, कान्तं = मनोरमं, वपुः = शरीरं च = समच्चयेऽर्थे, 'एतत्सर्वं' बहु=बहुलम्, अल्पस्य = स्तोकस्य, हेतोः=कारणात्, हातुम्=

उत्स्रष्टुम्, इच्छन् = कामयमानः, त्वं = भवान्, विचारमूढः = कार्याकार्यविचारे मूर्खः, मे = मम, प्रतिभासि = प्रतिभाससे ।

समा०—एकमातपत्रं यस्मिंस्तदेकातपत्रम् । प्रभोर्भावः प्रभुत्वम् । इच्छतीतीच्छन् । विचारे मूढो विचारमूढः ।

को०—'एके मुख्यान्यकेवलाः इति' 'छत्र त्वातपत्रम्' इति चामरः ।

ता०—हे राजन् ! एकस्य धेनोर्हेतोश्चक्रवर्तित्वनवयौवनप्रभृतिसुखं त्यक्तुं यत्त्वमिच्छसि तन्मे नितान्तमूढ एव प्रतिभाससे ।

इन्दुः—एकच्छत्र, संसार की प्रभुता, नवीन युवावस्था और यह सुन्दर शरीर इन सब बहुतों को थोड़े से नन्दिनीरूप फल के लाभ के कारण से छोड़ने की इच्छा करते हुए तुम 'क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये' इसके विचार करने में मुझे मूर्ख मालूम पड़ते हो ॥ ४७ ॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ ! पितेव पासि ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—भूतानुकम्पेति । तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत् । 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । कृपैव वर्त्तते चेदित्यर्थः । तर्हि त्वदन्ते तव नाशे सतीयमेका गौः । स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति स्वस्तिमती भवेत् जीवेदित्यर्थः । 'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः । हे प्रजानाथ ! जीवन् पुनः पितेव प्रजा उपप्लवेभ्यः विघ्नेभ्यः शश्वत्सदा । 'पुनःसदार्थयोः शश्वत्' इत्यमरः । पासि रक्षसि । स्वप्राणव्ययेनैकधेनुरक्षणाद्वरं जीवितेनैव शश्वदखिलजगत्त्राणमित्यर्थः ।

अ०—तव भूतानुकम्पा चेत् 'तर्हि' त्वदन्ते 'सति' इयम्, एका, गौः, स्वस्तिमती, भवेत्, प्रजानाथ ! जीवन्, पुनः, पिता, इव, प्रजाः, उपप्लवेभ्यः, शश्वत्, पासि । वा०—तव भूतानुकम्पा चेद् 'भूयते तर्हि' अनयैकया गवा स्वस्तिमत्या भूयेत 'त्वया' जीवता पुनः पित्रेव प्रजाः पायन्ते ।

सुधा०—तव = भवतः, भूतानुकम्पा=प्राणिदया, चेद्, 'अस्तीति तर्हि' इति शेषः । त्वदन्ते = भवन्नाशे, सतीति शेषः । इयम् = एषा, एका = केवला, गौः = धेनुः, स्वस्तिमती = क्षेमवती, भवेत् = विद्येत, प्रजानाथ ! = जनेश्वर ! जीवन् = श्वसन्, पुनः = अवधारणेऽर्थे, पिता = जनकः, इव, प्रजाः = जनान्, पितृपक्षे-पुत्रान् । उपप्लवेभ्यः = उत्पातेभ्यः, चौरादिभयेभ्य इति भावः । शश्वत्=अनारतम्, पासि=त्रायसे ।

समा०—भूतेष्वनुकम्पा भूतानुकम्पा । तवान्त इति त्वदन्तस्तस्मिंस्त्वदन्ते । जीवतीति जीवन् । प्रजानां नाथ इति प्रजानाथस्तत्सम्बुद्धौ हे प्रजानाथ ! ।

को०—'उपप्लवः सैंहिकेये विप्लवोत्पातयोरपि' इति मेदिनी ।

ता०—हे राजन् ! त्वयि जीवति सति सकललोकस्थजीवपालनं भविष्यति त्वन्नाशे तु धेनोरेव रक्षणं भविष्यत्यतः स्वशरीररक्षणं ते श्रेष्ठं न तु धेनुरक्षणम् ।

इन्दुः—हे राजन् ! यदि तुम्हारी प्राणियों पर दया है, तो तुम्हारे मर जाने पर केवल यही एक गौ कल्याण से युक्त हो सकती है। हे प्रजाओं के स्वामी महाराज दिलीप ! आप जीते हुए निश्चय ही पिता के समान प्रजाओं की विघ्नों से निरन्तर रक्षा कर सकते हैं ॥ ४८ ॥

न धर्मलोपादियं प्रवृत्तिः किन्तु गुरुभयादित्यत आह—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥४९॥

सञ्जी०—अथेति। अथ पक्षान्तरे, अथवा। एकैव धेनुर्यस्य तस्मात्। अयं कोपकारणोपन्यास इति ज्ञेयम्, अत एवापराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादति-कोपनात्, 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः। अत एव कृशानुः प्रतिमोपमा यस्य तस्मादग्निकल्पाद् गुरोर्बिभेषि। इति काकुः 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादाना-त्पञ्चमी। अल्पवित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः। अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः 'मन्यु-र्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। घटा इवोधांसि यासां ता घटोध्नीः। 'ऊधसोऽनङ् इत्य-नङादेशः 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इति ङीष्। कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता। 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः। भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः।

अ०—अथ, एकधेनोः, अपराधचण्डात्, कृशानुप्रतिमात्, गुरोः बिभेषि, 'त्वम्' अस्य, मन्युः, घटोध्नीः कोटिशः, गाः, स्पर्शयता भवता विनेतुं शक्यः।

वा०—त्वया भीयते अस्य मन्युं गाः स्पर्शयन् भवान् विनेतुं शक्नुयात्।

सुधा—अथ = पक्षान्तरे, एकधेनोः=केवलसुरभेः, 'अत एव' इति शेषः। अपराध-चण्डात् = आगोऽत्यन्तकोपनात्, अत एव' कृशानुप्रतिमात् = पावकप्रतिमानात्, गुरोः = वसिष्ठात्, बिभेषि = त्रस्यसि, अस्य = एतस्य मन्युः=क्रोधः, घटोध्नीः=कल-शापीनवतीः, कोटशः = कोटिसङ्ख्यकाः, गाः = सौरभेयीः, स्पर्शयता = ददता, भवता = त्वया, विनेतुं = दूरीकर्तुम्। शक्यः = क्षमः, अस्तीति शेषः।

समा०—एकैव धेनुर्यस्य स एकधेनुस्तस्मादेकधेनोः अपराधे चण्डोऽपराधचण्ड-स्तस्मादपराधचण्डात्। कृशानुः प्रतिमा यस्य स कृशानुप्रतिमस्तस्मात्कृशानुप्रति-मात्। घटा इवोधांसि यासां ता घटोध्न्यस्ता घटोध्नीः।

को०—'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इति। 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया। प्रतिकृतिरर्चा प्रतिनिधिः' इति चामरः।

ता०—हे राजन् यदि नन्दिनीनाशरूपापराधेनातिक्रुद्धस्य गुरोर्भयं करोपि, तर्हि पयस्विनीः कोटिशो गाः ददत् त्वं तस्य क्रोधशान्तिं कर्तुं क्षमोऽस्यतो धेनुरक्षार्थमनुनयस्ते वृथैव।

इन्दुः—अथवा हे राजन् ! एक ही है धेनु जिसके अत एव गौ की रक्षा न करने रूप अपराध होने से अत्यन्त क्रुद्ध हुए, अग्नि के तुल्य अपने गुरु वसिष्ठजी से यदि

तुम डरते हो तो, उनके क्रोध को घड़े के समान बड़े बड़े स्तनों वाली करोड़ों गायों को देते हुए दूर करने में समर्थ हो ॥ ४९ ॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ ५० ॥

सञ्जी०—तद्रक्षेति । तत्तस्मात्कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् । कर्मणि षष्ठी । ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम् । 'ज्योत्स्नातमिस्त्रे'त्यादिना वलच्प्रत्ययान्तो निपातः । आत्मदेहं रक्ष । ननु गासुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात् । नेत्याह—महीतलेति, ऋद्धं समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्नमैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धि पदं स्थानमाहुः । स्वर्गान्न भिद्यत इत्यर्थः ।

अ०—तत्, कल्याणपरम्पराणाम्, भोक्तारम् ऊर्जस्वलम्, आत्मदेहं, रक्ष, हि, ऋद्धं, राज्यं, महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम्, ऐन्द्रम्, पदम् आहुः ।

वा०—भोक्तोर्जस्वल आत्मदेहस्त्वया रक्ष्यतां राज्यमैन्द्रं पदमुच्यते ।

सुधा०—तत् = तस्मात्कारणात् , कल्याणपरम्पराणाम् = भद्रपरिपाटीनाम्, भोक्तारम् = अनुभवितारम्, ऊर्जस्वलं = बलवन्तम्, आत्मदेहं = स्वशरीरं, रक्ष = पालय, हि = यतः, ऋद्धं = सुसमृद्धं, राज्यं=राजभावं राजकर्म वा । महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम् = पृथ्वीतलस्पर्शेनैव पृथक्कृतम्, ऐन्द्रम् = इन्द्रसम्बन्धि पदं=स्थानम्, आहुः = ब्रुवन्ति, विद्वांस इति शेषः ।

समा०—कल्याणानां परम्पराः कल्याणपरम्परास्तासां तथोक्तानाम् । ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलस्तमूर्जस्वलम् । आत्मनो देहः आत्मदेहस्तमात्मदेहम् । मह्यास्तलं महीतलं तस्य स्पर्शनं महीतलस्पर्शनम् तदेव प्रमाणमस्येति महीतलस्पर्शनमात्रं, तेन भिन्नम् महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नं तत्तथोक्तम् ।

कोशः—'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः । 'ऊर्जस्तु कार्तिकोत्साहबलेषु प्राणनेऽपि च' इति मेदिनी । 'ऋद्धं सम्पन्नधान्ये च सुसमृद्धौ च वाच्यवत्' इति मेदिनी ।

ता०—हे राजन् ! त्वमुत्तरोत्तरसुखानां भोक्तारं स्वशरीरं रक्ष, यतो विद्वांसः स्वर्गात्पृथग्भूतं भवदीयं समृद्धं राज्यमिन्द्रराज्यं कथयन्ति ।

इन्दुः—इस कारण हे राजन् ! तुम उत्तरोत्तर सुखों का भोग करनेवाले अत्यन्त बल से युक्त अपने शरीर की रक्षा करो, क्योंकि विद्वान् लोग समृद्धिशाली राज्य को केवल पृथ्वीतल का सम्बन्ध होने से अलग हुआ इन्द्रसम्बन्धी स्थान (स्वर्ग) कहते हैं ॥ ५० ॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—एतावदिति । मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य

प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः शैलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेव। इत्युत्प्रेक्षा। भाषिरयं ब्रुविसमानार्थकत्वाद् द्विकर्मकः ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः। तदुक्तम् = (दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ। ब्रुविशासिगणेन च यत्सचते तदकीर्त्तितमाचरितं कविना॥) इति।

अ०—मृगेन्द्रे, एतावत् , उक्त्वा, विरते, 'सति' गुहागतेन, अस्य, प्रतिस्वनेन, शिलोच्चयः, अपि, प्रीत्या, तम्, एव अर्थं, क्षितिपालम्, उच्चैः, अभाषत इव।

वा०—शिलोच्चयेनापि प्रीत्या स एवार्थः, क्षितिपालमुच्चैरभाष्यतेव।

सुधा—मृगेन्द्रे = सिंहे, एतावत् = इत्येतत्पर्यन्तम, उक्त्वा = कथयित्वा, विरते= निवृत्ते सतीति शेषः। गुहागतेन=गह्वरप्राप्तेन, अस्य=सिंहस्य, प्रतिस्वनेन = प्रतिशब्देन, शिलोच्चयः = हिमाचलः, अपि=समुच्चये, प्रीत्या=हर्षेण, तम् = पूर्वोक्तम्, एव = अवधारणे, अर्थम् = अभिधेयं, क्षितिपालं=महीपतिम्, उच्चैः = तारस्वरेण, अभाषत = अकथयत्, इव = यथा।

स—एतत्परिमाणमस्येत्येतावत्। गुहां गतो गुहागतस्तेन गुहागतेन। क्षितिं पालयतीति क्षितिपालस्तं क्षितिपालम्।

कोशः—'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः' इत्यमरः।

ता०—एतावत् कथयित्वा सिंहे तूष्णीम्भूते सति तस्य हिमालयगुहागतप्रतिध्वनिना पर्वतोऽपि सहवासकृतसौहार्देन तमेवार्थं नृपमुच्चैरभाषतेव।

इन्दुः—सिंह के इतना कहकर चुप हो जानेपर गुफा में पहुँची हुई इसकी प्रतिध्वनि द्वारा पर्वत भी प्रेमसे मानो उसी बातको राजा दिलीपसे जोरसे कहने लगा॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः॥ ५२॥

सञ्जी०—निशम्येति। देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच। किम्भूतः सन्। तेन सिंहेन यदध्यासितं व्याक्रमणम्। 'नपुंसके भावे क्तः'। तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इति षच्। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। किं वा वक्ष्यतीति भीत्यैवं स्थितयेत्यर्थः। धेन्वा निरीक्ष्यमाणः। अतएव सुतरां दयालुः सन्। सुतरामित्यत्र 'द्विवचनविभज्यो०' इत्यादिना सुशब्दात्तरप्। 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इत्यनेनामुप्रत्ययः। 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययसंज्ञा।

अ०—देवानुचरस्य, वाचं, निशम्य, मनुष्यदेवः, पुनः, अपि, उवाच, 'किम्भूतः सन्' तदध्यासितकातराक्ष्या, धेन्वा, निरीक्ष्यमाणः,'अत एव' सुतरां, दयालुः, 'सन्'।

वा०—मनुष्यदेवेन पुनरप्यूचे, धेन्वा निरीक्ष्यमाणेन दयालुना सता।

सुधा—देवानुचरस्य = महादेवकिङ्करस्य, वाचं=वाणीं, 'किम्भूतः सन्' निशम्य= श्रुत्वा, मनुष्यदेवः = महाराजः, पुनः = भूयः, अपि=समुच्चये, उवाच=जगाद, तदध्या

ध्यासितकातराक्ष्या = तदधिष्ठानाधीरनयनया, धेन्वा = नन्दिन्या, निरीक्ष्यमाणः=दृश्यमानः, 'अत एव' इति शेषः । सुतरां = नितराम्, दयालुः=कारुणिकः सन्निति शेषः ।

समा०—देवस्यानुचरो देवानुचरस्तस्य देवानुचरस्य । मनुष्याणां मनुष्येषु वा देवो मनुष्यदेवः । तेनाध्यासितं तदध्यासितं तदध्यासितेन कातरे तदध्यासितकातरे, तदध्यासितकातरे अक्षिणी यस्याः सा तदध्यासितकातराक्षी तया तथोक्तया । निरीक्ष्यत इति निरीक्ष्यमाणः ।

को—'देवं हृषीके देवस्तु नृपतौ तोयदे सुरे ।' इत्यनेका० ।'अधीरे कातर' इत्यमरः ।

ता०—सिंहाक्रान्तयाऽधीरलोचनया नन्दिन्याऽऽलोक्यमानो राजा सिंहं प्रति पुनरप्युवाच ।

इन्दुः—शंकर भगवान् के नौकर (सिंह) की वाणी सुनकर मनुष्यों के राजा (वे दिलीप) फिर भी (उससे) बोले, जो कि—उस सिंह के द्वारा आक्रान्त होने से आकुल नेत्रों वाली नन्दिनी से देखे जाते हुए अत एव अत्यन्त दयालु हो रहे थे ॥ ५२ ॥

किमुवाचेत्याह—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्त्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—क्षतादिति । 'क्षणु हिंसायाम्' इति धातोः सम्पदादित्वात्क्विप् । 'गमादीनाम्' इति वक्तव्यादनुनासिकलोपे तुगागमे च क्षदिति रूपं सिद्धम् । क्षताद् नाशात् त्रायत इति क्षत्त्रः । सुपीति योगविभागात्कः । तामेतां व्युत्पत्तिं कविरर्थतोऽनुक्रामति-क्षतादित्यादिना । उदग्र उन्नतः । क्षत्त्रस्य क्षत्त्रवर्णस्य शब्दो वाचकः क्षत्त्रशब्द इत्यर्थः । क्षतात्त्रायत इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु रूढः किल प्रसिद्धः खलु । नाश्वकर्णादिवत्केवलरूढः किन्तु पंकजादिवद्योगरूढ इत्यर्थः । ततः किमित्यत आह-तस्य क्षत्त्रशब्दस्य विपरीतवृत्तेर्विरुद्धव्यापारस्य क्षतत्राणमकुर्वतः पुंसो राज्येन किम् । उपक्रोशमलीमसैर्निन्दामलिनैः । 'उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इत्यमरः । 'ज्योत्स्नातमिस्त्रा०' इत्यादिना मलीमसशब्दो निपातितः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः । तैः प्राणैर्वा किम् । निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः । एतेन 'एकातपत्रम्' (२।४७) इत्यादिना श्लोकद्वयेनोक्तं प्रयुक्तमिति वेदितव्यम् ।

अ०—उदग्रः, क्षत्त्रस्य, शब्दः । क्षतात्, त्रायते, इति, 'व्युत्पत्त्या' भुवनेषु' रूढः किल, तद्विपरीतवृत्तेः, राज्येन, किम्, उपक्रोशमलीमसैः प्राणैः, वा 'किम्' ।

वा०—उदग्रेन क्षत्त्रस्य शब्देन 'भूयते' ।

सुधा०—उदग्रः = उच्छ्रितः, क्षत्त्रस्य = क्षत्त्रवर्णस्य, शब्दः = वाचकः, क्षतात्= नाशात्, त्रायते=रक्षति, इति=हेतोः, भुवनेषु=लोकेषु, रूढः=योगरूढः, किल =

असिद्धौ, तद्विपरीतवृत्तेः=पूर्वोक्तक्षत्रशब्दविरुद्धवर्त्तनस्य, राज्येन=राजभावेन, किम्=किम्प्रयोजनम्, न किमपि प्रयोजनमस्तीति भावः। उपक्रोशमलीमसैः=निन्दामलिनैः, प्राणैः=असुभिः, वा=अथवा, किम्=प्रयोजनम्, न किमपीति भावः।

समा०—तस्य विपरीता तद्विपरीता तद्विपरीता वृत्तिर्यस्य स द्विपरीतवृत्तिस्तस्य तद्विपरीतवृत्तेः। मलाः सन्त्येषामिति मलीमसाः, उपक्रोशेन मलीमसा उपक्रोशमलीमसास्तैस्तथोक्तैः।

कोशः—'किम् कुत्सायां वितर्के च निषेधप्रश्नयोरपि' इति मेदिनी।

ता०—लोके विपत्तिमग्नस्य रक्षक एव यथार्थः क्षत्रियः अतः स्वधर्माचरणरहितस्य तस्य जीवनं राज्यादिकं च धिक्कारभाजनतया व्यर्थं भवति।

इन्दुः—उन्नत जो क्षत्रियवर्ण का वाचक क्षत्र शब्द है सो 'क्षत् अर्थात् नाश से जो बचावे वह क्षत्रिय कहलाता है' इस व्युत्पत्ति से संसार में 'पङ्कज' की तरह योगरूढि से प्रसिद्ध है, अतः उस क्षत्र शब्द से विपरीत व्यापार करने वाले अर्थात् नाश से नहीं रक्षा करने वाले पुरुष के राज्य और अपकीर्ति से मलिन हुए प्राण (जीवन) ये दोनों व्यर्थ हैं ॥ ५३ ॥

'अथैकधेनोः' (२-४९) इत्यत्रोत्तरमाह—

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—कथमिति। अनुनयः क्रोधापनयः। चकारो वाकारार्थः। महर्षेरनुनयो वाऽन्यासां पयस्विनीनां दोग्ध्रीणां गवां विश्राणनाद्दानात्, 'त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने। विश्राणनं वितरणम्' इत्यमरः। कथं नु शक्यः। न शक्य इत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—इमां गां सुरभेः कामधेनोः 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। अनूनामन्यूनामवेहि जानीहि। तर्हि कथमस्याः परिभवो भूयादित्याह—रुद्रौजसेति। अस्यां गवि त्वया कर्त्रा प्रहृतं तु प्रहारस्तु। नपुंसके भावे क्तः। रुद्रौजसेश्वरसामर्थ्येन न तु स्वयमित्यर्थः। 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी।

अ०—महर्षेः अनुनयः, 'च' अन्यपयस्विनीनां, विश्राणनात्, कथं, नु, शक्यः, इमां सुरभेः, अनूनाम्, अवेहि, अस्यां, त्वया, प्रहृतं, तु, रुद्रौजसा।

वा०—अनुनयेन शक्येन 'भूपतेः' इयमनूना 'त्वया' अवेयताम्, प्रहृतेन, 'अभूयत'।

सुधा०—महर्षेः=वसिष्ठस्य। अनुनयः=सान्त्वनं, च=वा, अन्यपयस्विनीनाम्=इतरक्षीरवतीनाम्, गवाम्। विश्राणनात्=दानात्, कथं=केन प्रकारेण, नु=विकल्पार्थे, शक्यः=शक्तुमर्हः, शक्य इत्यर्थः। इमां=नन्दिनीम्, सुरभेः=कामधेनोः, अनूनाम्=अन्यानां, तत्कल्पाम्। अवेहि=जानीहि,त्वमिति शेषः। अस्याम्=एतस्यां,

त्वया = भवता, प्रहृतम्=आक्रमणं, तु = विशेषेऽर्थे समुच्चये वा, रुद्रौजसा = शंकर-बलेन, अवेहीति शेषः ।

समा०—अन्याश्च ताः पयस्विन्य इत्यन्यपयस्विन्यस्तासामन्यपयस्विनीनाम् । न ऊनेत्यनूना तामनूनाम । रुद्रस्यौज इति रुद्रौजस्तेन रुद्रौजसा ।

कोशः—'ओजो दीप्तिप्रकाशयोः । अवष्टम्भे बले धातुतेजसी'त्यनेकार्थः ।

ता०—अन्यासां द्रोग्ध्रीणां गवां प्रदानान्महर्षेः क्रोधशान्तिर्न भवितुमर्हति यत इयं कामधेनुकल्पा, अस्यां यदाक्रमणं कृतं तत्तु शङ्करतेजसा, न तु स्वसामर्थ्येनेति त्वं विद्धि।

इन्दुः—और महर्षि वसिष्ठजी के क्रोध की शान्ति दूसरी दूध देने वाली गायों के देने से किस प्रकार हो सकती है? 'अर्थात् कभी नहीं हो सकती है' क्योंकि—इसे कामधेनु से कम नहीं समझना चाहिये 'अर्थात् तुल्य ही समझना चाहिये' और इसके ऊपर जो तुम्हारा आक्रमण हुआ है, उसे भी शङ्कर भगवान् की सामर्थ्य से ही समझना चाहिये न कि अपनी सामर्थ्य से ॥ ५४ ॥

तर्हि किं चिकीर्षितमित्याह—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियाऽर्थः ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—सेयमिति । सेयं गौर्मया निष्क्रीयते प्रत्याह्रियतेऽनेन परिगृहीतमिति निष्क्रयः प्रतिशीर्षकम् । 'एरच्' इत्यच्प्रत्ययः । स्वदेहार्पणमेव निष्क्रयस्तेन भवत्तस्त्वत्तः । पञ्चम्यास्तसिल् । मोचयितुं न्याय्या न्यायादनपेता । युक्तेत्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इत्यनेन यत्प्रत्ययः । एवं सति तव पारणा भोजनं विहता न स्यात्, मुनेः क्रिया होमादिः स एवार्थः प्रयोजनम् । स चालुप्तो भवेत् । स्वप्राणव्ययेनापि स्वामिगुरुधनं संरक्ष्यमिति भावः ।

अ०—सा, इयं, मया, स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण, भवत्तः, मोचयितुं, न्याय्या, एवं, 'सति' तव, पारणा, विहता, न, स्याद्, मुनेः, क्रियाऽर्थः च, अलुप्तः, भवेत् ।

वा०—तयाऽनया न्याय्यया 'भूयते' पारणया विहतया न भूयेत क्रियाऽर्थेन-चालुप्तेन भूयेत ।

सुधा—सा = पूर्वोक्ता, इयम् = एषा, धेनुः । मया = दिलीपेन, स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण=आत्मशरीरत्यागमूल्येन, स्वशरीरार्पणरूपनिष्क्रयेणेति भावः । भवत्तः = त्वत्तः, मोचयितुं, = हापयितुं, न्याय्या = न्याययुक्ता, एवम् = इत्थं 'सति' तव=भवतः, पारणा=व्रतान्तभोजनं, विहता=नष्टा, न = नहि, स्याद्=भवेद्, मुनेः = वसिष्ठस्य, क्रियाऽर्थः=कृत्यप्रयोजनं, च=अन्वाचयेऽर्थे । अलुप्तः=अनष्टः, भवेत्=स्यात् ।

समा०—स्वस्य देहः स्वदेहः तस्यार्पणं, स्वदेहार्पणं, तदेव निष्क्रयः स्वदेहार्पणनिष्क्रयस्तेन तथोक्तेन । न लुप्तोऽलुप्तः । क्रियैवार्थः क्रियाऽर्थः ।

कोशः—'एवं प्रकारे स्यादङ्गीकारेऽवधारणे । अनुप्रश्ने परकृतावुपमापृच्छयोरपि' इति मेदिनी ।

ता०—सेयं मया स्वशरीरदानविनिमयेन भवतो मोचयितुं योग्याऽस्ति, एवं कृते सति तव चिरकालाद् बुभुक्षितस्य व्रतान्तभोजनं नष्टं न भवेत्, तथा वसिष्ठ-महर्षेर्होमादिक्रिया रूपं प्रयोजनमपि लुप्तं न स्यात्।

इन्दुः—कामधेनु के तुल्य इस नन्दिनी को मेरा अपने शरीरार्पण रूप निष्क्रय के द्वारा आप से छुड़ाना न्यायसङ्गत है, ऐसा करने पर आपके व्रत के अन्त का भोजन (पारणा) भी नष्ट नहीं होगा और वसिष्ठ महर्षि का होमादि रूप प्रयोजन भी नष्ट नहीं होगा ॥ ५५ ॥

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

भवानपीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—भवानीति। परवान्स्वामिपरतन्त्रो भवानपि। 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः। इदं वाच्यमाणमवैति। भवताऽनुभूयत एवेत्यर्थः। 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः। किमित्यत आह—हि यस्माद्धेतोः। 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः। तव देवदारौ विषये महान् यत्नः। महता यत्नेन रक्ष्यत इत्यर्थः। इदं शब्दोक्तमर्थं दर्शयति—स्थातुमिति। रक्ष्यं वस्तु विनाश्य विनाशं गमयित्वा स्वय-मक्षतेनाव्रणेन, नियुक्तेनेति शेषः। नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे स्थातुं शक्यं न हि।

अ०—परवान्, भवान्, अपि, इदम्, अवैति, हि तव, देवदारौ, महान्, यत्नः, रक्ष्यं, विनाश्य, अक्षतेन नियोक्तुः, अग्रे, 'स्थातुं, शक्यं न हि।

वा०—परवता=भवताऽवेयते महता यत्नेन 'भूयते' नहि स्ववमक्षतः शक्नुयात्।

सुधा०—परवान्=पराधीनः, भवान्=त्वम्, अपि=समुच्चयेऽर्थे, इदम्=एतद्, वक्ष्यमाणमिति यावद्। अवैति=जानाति, हि=यतः, तव=भवतः, देवदारौ=देव, दारुवृक्षे, महान्=अतिशयः, यत्नः=प्रयासः, अस्तीति शेषः। रक्ष्यं=पाल्यं, वस्तु। विनाश्य=अभावं गमयित्वा, स्वयम्=आत्मना, नियुक्तेनेति शेषः। अक्षतेन=व्रणरहितेन, नियोक्तुः=आदेष्टुः, अग्रे=पुरतः, स्थातुं=वस्तुम्, शक्यं=शक्तुमर्हं नहि=न।

समा०—परः स्वाम्यस्यास्तीति परवान्। नियुनक्तीति नियोक्ता तस्य नियोक्तुः। न क्षतोऽक्षतस्तेनाक्षतेन। वा०—'स्वयमात्मना' इत्यमरः॥

ता०—किञ्च निजभर्तुरधीनस्थो भवानपि जानात्येव यतो भवतोऽप्यस्य देव-दारुतरोः रक्षणे महान् प्रयत्नो लक्ष्यतेऽत एव, स्वयमेव क्षतरहितेन सदा रक्षणार्हं वस्तु विनाश्य स्वामिनोऽग्रे स्थातुं नोचितम्।

इन्दुः—पराधीन होते हुये आप भी इस (आगे कही जाने वाली) बात को जानते हैं, क्योंकि आपका देवदारु के विषय में 'रक्षा करने के लिये' बहुत भारी प्रयत्न है। 'अत एव' रक्षा करने के योग्य वस्तु का नाश करके स्वयम् बिना नष्ट

हुए नौकर स्वामी के आगे उपस्थित होने के लिये समर्थ नहीं हो सकता ॥ ५६ ॥

सर्वथा चैतदप्रतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।

एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—किमिति। किमपि किं वाऽहं तवाहिंस्योऽवध्यो मतश्चेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन्दयालुः कारुणिको भव। 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः। ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे कोऽभिनिवेशोऽत आह—एकान्तेति। मद्विधानां मादृशानां विवेकिनामेकान्तविध्वंसिष्ववश्यविनाशिषु भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु शरीरेष्वनास्था खल्वनपेक्षैव।'अस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते'इति विश्वः।

अ०—किमपि, अहं, तव, अहिंस्यः, मतः, चेत्, तर्हि', मे, यशःशरीरे, दयालुः, भव, मद्विधानाम्, एकान्तविध्वंसिषु, भौतिकेषु, पिण्डेषु, अनास्था, खलु।

वा०—मया तवाहिंस्येन मतेन, 'भूयते' अनास्थया खलु 'भूयते'। 'त्वया' दयालुना भूयताम्।

सुधा—किमपि = किञ्च, अहं = दिलीपः, तव=भवतः, सिंहस्य, अहिंस्यः=सिंहाऽनर्हः, मतः = अभीष्टः, चेद् = यदि, 'तर्हि' इति शेषः। मे = मम, दिलीपस्य। यशः-शरीरे = कीर्त्तितनौ, दयालुः = कृपालुः, भव = स्याः त्वमिति शेषः। मद्विधानां = राज्ञाम्, एकान्तविध्वंसिषु=नितान्तनश्वरेषु, भौतिकेषु = क्षित्यप्तेजोवाय्वाकाशेति-पञ्चभूतरचितेषु, पिण्डेषु, अनास्था = अनपेक्षा, खलु = एव।

समा०—हिंसितुं योग्यो हिंस्यः, न हिंस्योऽहिंस्यः! यश एव शरीरं यशःशरीरं तस्मिन् यशःशरीरे। विशेषेण ध्वंसितुं शीलमेषामिति विध्वंसिनः, एकान्तं विध्वंसिन इत्येकान्तविध्वंसिनस्तेषु तथोक्तेषु। मम विधेव विधा प्रकारो येषान्ते मद्विधास्तेषां मद्विधानाम्। न आस्थेत्यनास्था। भूतानां विकारा भौतिकास्तेषु भौतिकेषु।

कोशः—'तीव्रैकान्तनितान्तानि गाढबाढदृढानि च' इत्यमरः। 'पिण्डो गोले बले सान्द्रे देहागारैकदेशयोः। देहभावे निकाये चे'ति मेदिनी।

ता०—किञ्च यद्यहं केनचित् कारणेन भवतामवध्यः स्यां तर्हि भवान् मम यशोरूपशरीरे दयालुर्भूत्वा नश्वरस्य पञ्चभूतनिर्मितस्य शरीरस्य भक्षणेन शाश्वतिकीं कीर्तिं रक्षतु।

इन्दुः—और यदि मैं तुम्हारे समक्ष में अवध्य हूँ तो मेरे यश रूप शरीर के विषय में तुम दयायुक्त होओ, क्योंकि हमारे ऐसे लोगों की अवश्य नष्ट होनेवाले पृथ्वी-जल-तेज-वायु-अकाश इन पांच महाभूतों से बने हुए शरीर में अपेक्षा नहीं रहती है ॥ ५७ ॥

सौहार्दादहमनुसरणीयोऽस्मीत्याह—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते।

तद् भूतनाथानुग! नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ ५८॥

सञ्जी०—सम्बन्धमिति। सम्बन्धं सख्यम्। आभाषणमालापः पूर्वं कारणं यस्य

तमाहुः। 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः। स तादृक्सम्बन्धो वनान्ते सङ्गतयोर्नौ वावयोर्वृत्तो जातः। तत्तो हेतोर्हे भूतनाथानुग! शिवानुचर! एतेन तस्य महत्त्व सूचयति। अत एव सम्बन्धिनो मित्रस्य मे प्रणयं याञ्चाम्। 'प्रणयास्त्वमी। विश्रम्भयाञ्चाप्रेमाणः' इत्यमरः। विहन्तुं, नार्हसि।

अ०—सम्बन्धम्, आभाषणपूर्वम्, आहुः, सः, वनान्ते, सङ्गतयोः, नौ, वृत्तः, तद्, भूतनाथनुग!, त्वं सम्बन्धिनः, मे, प्रणयं, विहन्तुं, न अर्हसि,। वा०—सम्बन्ध आभाषणपूर्वं उच्यते 'विद्वद्भिः' तेन वृत्तेन 'अभूयत' त्वया प्रणयो नार्ह्यते।

सुधा—सम्बन्धं=मित्रत्वम्, आभाषणपूर्वम् = आलापप्रथमम्, आहुः = ब्रुवन्ति 'विद्वांसः' इति शेषः। सः=आलापजन्यः सम्बन्धः, वनान्ते = काननप्रान्ते, सङ्ग तयोः = मिलितयोः, नौ = आवयोः, वृत्तः = भूतः, तत् = तस्मात् कारणात्, भूत नाथानुग! = महेश्वरानुचर! हे सिंह! त्वम् 'अत एव' सम्बधिनः = मित्रतारूप सम्बन्धवतः, मे = मम, दिलीपस्य। प्रणयं = याञ्चां, विहन्तुं=नाशयितुं, न = नहि, अर्हसि = योग्योऽसि।

समा०—आभाषणं पूर्वं यस्य स आभाषणपूर्वस्तमाभाषाणपूर्वम्। वनस्यान्तं वनान्तस्तस्मिन् वनान्ते। भूतानां नाथो भूतनाथः, अनु पश्चाद् गच्छतीत्यनुगः भूतनाथस्यानुगो भूतनाथानुगस्तत्सम्बुद्धौ हे भूतनाथनुग!। सम्बन्धोऽस्त्यस्येति सम्बन्धी तस्य सम्बन्धिनः। को०—'पूर्वन्तु पूर्वजे। प्रागग्रे श्रुतिभेदे चे'त्यने० 'अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः' इति हैमः।

ता०—यत् परस्परालापजन्यं सख्यं भवति, तदावयोर्वनमध्ये मिलितयोर्जात मत एव हि शिवानुचर सिंह! मित्रस्य मे प्रार्थनां विफलीकर्त्तुं त्वं योग्यो नासि

इन्दु०—सम्बन्ध (मैत्री) को जो बातचीत से उत्पन्न हुआ लोग कहते हैं, वह वन के बीच में मिले हुए हम दोनों का हो चुका है, इस कारण से हे शिवजी के अनुचर सिंह! तुम सम्बन्धी हाकर मुझ दिलीप की प्रार्थना को विफल करने के लिये योग्य नहीं हो ॥ ५८ ॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—तथेतीति। तथेति गामुक्तवते हरये सिंहाय। 'कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुः' इति शाश्वतः। सद्यस्तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात् प्रतिबन्धाद्विमुक्तो बाहुर्यस्य स दिलीपः। न्यस्तशस्त्रस्त्यक्तायुधः सन् स्वदेहम्। आमिषस्य मांसस्य। 'पललं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः। पिण्डं कवलमिव। उपानयत्समर्पितवान्। एतेन निर्ममत्वमुक्तम्।

अ०—तथा, इति, गाम्, उक्तवते, हरये, सद्यः, प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः, सः न्यस्तशस्त्रः, 'सन्' स्वदेहम्, आमिषस्य, पिण्डम्, इव, उपानयत्।

वा०—प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुना तेन न्यस्तशस्त्रेण स्वदेहः पिण्ड इवोपानीयत।

सुधा०—तथा=तेन प्रकारेण, यथा भवान् ब्रवीति तथैव करिष्यामीति भावः । इति=इति, स्वरूपां, गां=गिरम्, उक्तवते=कथितवते, हरये=सिंहाय, सद्यः=तत्क्षणे, प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः=स्तम्भनत्यक्तभुजः, सः=दिलीपः, न्यस्तशस्त्रः=परित्यक्तायुधः, सन्निति शेषः । स्वदेहम्=आत्मशरीरम्, आमिषस्य=पललस्य, मांसस्य, पिण्डं=कवलम्, इव=यथा, उपानयत्=उपाहरत् ।

समा०—प्रतिष्टम्भाद्विमुक्तः, प्रतिष्टम्भविमुक्तः, स बाहुर्यस्य स तथोक्तः । न्यस्तं शस्त्रं येन स तथोक्तः । स्वस्य देहः स्वदेहस्तं स्वदेहम् ।

को०—'गौरुदके दृशि । स्वर्गे दिशि पशौ रश्मौ व्रजे भूमाविषौ गिरि' इत्यनेकार्थसंग्रहः । 'पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः ।

ता०—यथा भवान् ब्रवीति तथैव भवत्विति कथयित्वा प्रार्थनामङ्गीकुर्वते सिंहाय दिलीपः परित्यक्तायुधः सन् निजदेहं मांसग्रासमिव कृत्वा समर्पितवान् ।

इन्दुः०—'वैसा ही हो' इस वचन को कहते हुए सिंह के लिए उसी क्षण में बन्धन से खुली बाहु वाले उन राजा दिलीप ने शस्त्र के त्यागने वाले होते हुए अपने शरीर को मांस के पिण्ड (ग्रास) के समान समर्पण कर दिया ॥ ५९ ॥

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ ६० ॥

सञ्जी०—तस्मिन्निति । तस्मिन्क्षणे उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यत उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतोऽवाङ्मुखस्याधोमुखस्य 'स्यादवाङप्यधोमुखः' इत्यमरः' । प्रजानां पालयितू राज्ञः उपर्युपरिष्टाव 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः । विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।

अ०—तस्मिन्, क्षणे, उग्रं, सिंहनिपातम्, उत्पश्यतः, अवाङ्मुखस्य, प्रजानां पालयितुः, उपरि, विद्याधरहस्तमुक्ता, पुष्पवृष्टिः, पपात ।

वा०—विद्याधरहस्तमुक्तया पुष्पवृष्ट्या पेते ।

सुधा—तस्मिन्=पूर्वोक्ते, क्षणे=मुहूर्त्ते, सिंहाय स्वशरीरार्पणसमये । उग्रम्=उत्कटं सिंहनिपातम्=मृगेन्द्रनिपतनम्, उत्पश्यतः=वितर्कयतः, अवाङ्मुखस्य=अधोमुखस्य, प्रजानां=जनानां, पालयितुः=रक्षितुः दिलीपस्य । उपरि=उपरिष्टाद्, विद्याधरहस्तमुक्ता=विद्याधरदेवयोनिविशेषकरविसृष्टा, पुष्पवृष्टिः=कुसुमवर्षणं, पपात=अपतत् ।

समा०—सिंहस्य निपातः सिंहनिपातस्तं तथोक्तम् । अवाङ्मुखं यस्य सोऽवाङ्मुखस्तस्यावाङ्मुखस्य । पुष्पाणां वृष्टिः पुष्पवृष्टिः । विद्याया गुटिकाऽञ्जनादिविषयिण्या धरा धारका इति विद्याधरास्तेषां हस्ता विद्याधरहस्तास्तैर्मुक्ता विद्याधरहस्तमुक्ता ।

को०—'क्षणं व्यापारशून्यत्वमुहूर्त्तोत्सवपर्वसु' इति रुद्रः । 'उग्रः क्षत्त्रियतः शूद्रासूनावुत्कटरुद्रयोः' इत्यनेकार्थसंग्रहः ।

ता०—तस्मिन् मुहूर्त्ते रौद्रं सिंहपतनं मनसि विचारयतोऽधोमुखस्य दिलीपस्यो-

परि विद्याधराणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिरपतत् ।

इन्दुः—उस क्षण में उत्कट सिंह के आक्रमण के विषय में विचार करते हुये नीचे को मुख किये प्रजाओं के पालन करने वाले राजा दिलीप के ऊपर विद्याधर नामक देवयोनिविशेषों के हाथों से छोड़ी गई फूलों की वर्षा हुई ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—उत्तिष्ठेति । राजा अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमानं तत् 'उपमानादाचारे' इति क्यच् । ततः शानच् । उत्थितमुत्पन्नं 'हे वत्स ! उत्तिष्ठ' इति वचो निशम्य श्रुत्वा । उत्थितः सन् । अस्तेः शतृप्रत्ययः । अग्रतोऽग्रे प्रस्रवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा तां प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श सिंह न ददर्श ।

अ०—राजा, अमृतायमानम्, उत्थितं, 'वत्स' !' उत्तिष्ठ, इति वचः, निशम्य, उत्थितः, सन् , अग्रतः, प्रस्रविणीं, गां, स्वां, जननीम्, इव, ददर्श, सिंहं न 'ददर्श' ।

वा०—राज्ञा उत्थितेन सता प्रस्रविणी गौः स्वा जननीव ददृशे, सिंहो न ददृशे ।

सुधा—राजा = नृपः, अमृतायमानं = पीयूषायमाणम्, उत्थितम् = उद्भूतं, 'वत्स !=पुत्र ! उत्तिष्ठ = उत्थितो भव', इति=इत्याकारकं वचः=वचनं, निशम्य = श्रुत्वा, उत्थितः = ऊर्ध्वमवस्थानं कृतवान् , सन् = वर्त्तमानः, अग्रतः = अग्रे, प्रस्र, विणीं = क्षीरस्राववतीम्, गां = नन्दिनीम्, स्वाम्=आत्मीयां जननीं = मातरम् इव=यथा, ददर्श = अपश्यत्, सिंहं = मृगेन्द्रं, न = नहि, 'ददर्श' ।

समा०—जनयति या सा जननी तां जननीम् । प्रस्रवोऽस्या अस्तीति प्रस्रविणी तां प्रस्रविणीम् । को०—'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः ।

ता०—'हे पुत्र ! उत्तिष्ठ' इत्यमृततुल्यं धेनोर्वचो निशम्य यावद्दिलीप उत्थितः सन् पश्यति तावदग्रे स्थितां दुग्धस्राविणीं स्वीयां जननीमिव नन्दिनीमेव दृष्टवान् न तु सिंहम् ।

इन्दुः—राजा दिलीप ने अमृत के समान (नंदिनी के मुख से) निकले हुए 'हे पुत्र ! उठो' इस वचन को सुनकर उठते हुए आगे 'स्थित' जिसके 'स्तनों से' दूध बह रहा है, ऐसी गौ (नन्दिनी) को अपनी माँ के समान देखा 'किन्तु' सिंह को नहीं देखा ॥ ६१ ॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—तमिति । विस्मितमाश्चर्यं गतम् । कर्त्तरि क्तः । दिलीपं धेनुरुवाच । किमित्यप्राह—हे साधो ! मया मायामुद्भाव्य कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि । ऋषिप्रभावान्मय्यन्तको यमोऽपि प्रहर्त्तुं न प्रभुर्न समर्थः अन्ये हिंस्रा घातुकाः 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' इत्यादि. रप्रत्ययः । किमुत

सुष्ठु न प्रभव इति योज्यम् । 'बलवत्सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः ।

अ०—विस्मितं, तं, धेनुः, उवाच, साधो !, मया, मायाम्, उद्भाव्य, 'त्वम्' परीक्षितः, असि, ऋषिप्रभावाद्, मयि, अन्तकः अपि, प्रहर्त्तुं, न प्रभुः, अन्यहिंस्राः, किमुत । वा०—विस्मितः' स धेन्वोचे अहं त्वाम् परीक्षितवत्यस्मि, अन्तकेनापि प्रभुणा 'भूयते' अन्यहिंस्रैः ॥

सुधा०—विस्मितं = साश्चर्यं, तं = दिलीपम् । धेनुः = नन्दिनी, उवाच = जगाद, साधो ! = सज्जन ! मया=धेन्वा, मायां = शाम्बरीं, सिंहरूपाम् । उद्भाव्य=उत्पाद्य, त्वमिति शेषः । परीक्षितः=परीक्षाविषयीकृतः, असि = भवसि, ऋषिप्रभावात्=वसिष्ठमहर्षिसामर्थ्यात् । मयि = धेनौ, अन्तकः = यमः, अपि=सम्भुच्चयेऽर्थे, सम्भावनायां वा । प्रहर्त्तुं, = हन्तुं, न = नहि, प्रभुः = समर्थः, अन्यहिंस्राः = इतरघातुकाः व्याघ्रादयः । किमुत = बलवद्, 'न प्रभवः = न समर्थाः' ।

समा०—विश्वं माति यस्यामिति मायां तां मायाम् । ऋषेः प्रभावा ऋषिप्रभावस्तस्मात्तथोक्तात् । अन्ये च ते हिंस्रा अन्यहिंस्राः ।

कोशः—'स्यान्माया शाम्बरी' इत्य० । 'प्रभावस्तेजसि शक्तौ' इत्यने० ।

ता०—हे साधो ! मायामुत्पाद्य मया परीक्षा कृता, वसिष्ठमहर्षिप्रभावाद् यमोऽपि मयि प्रहारं कर्तुं न समर्थो व्याघ्रादयस्तु नितरामसमर्थाः सन्तीति नृपं धेनुरुवाच ।

इन्दुः—आश्चर्य से युक्त उन राजा दिलीप से धेनु बोली कि—हे सज्जन महाराज दिलीप ! मैंने माया को उत्पन्न कर तुम्हारी परीक्षा की थी, महर्षि वशिष्ठजी के प्रभाव से यमराज भी मुझ पर प्रहार करने के लिये समर्थ नहीं हैं, दूसरे हिंस्र व्याघ्रादि तो और भी समर्थ नहीं हैं ॥६२॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व !
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥६३॥

सञ्जी०—भक्त्येति । हे पुत्र ! गुरौ भक्त्या मय्यनुकम्पया च ते तुभ्यं प्रीताऽस्मि । क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यम्' इति चतुर्थी । वरं देवेभ्यो वरणीयमर्थम् । 'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इत्यमरः । वृणीष्व स्वीकुरु । तथाहि-मां केवलानां पयसां प्रसूतिं कारणं नावेहि न विद्धि । किन्तु प्रसन्नां मां कामान्दोग्धीति कामदुघा तामवेहि । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययः ।

अ०—पुत्र ! गुरौ, भक्त्या, मयि, अनुकम्पया, च, ते, प्रीता, अस्मि, वरं, वृणीष्व, मां, केवलानां, पयसाम्, प्रसूतिं, न, अवेहि, प्रसन्नां, 'मां' कामदुघाम्, 'अवेहि' ।

वा०—प्रीतया मया भूयते त्वया वरो व्रियतां, त्वयाऽहं प्रसूतिर्नावेयै प्रसन्नाऽहं कामदुघाऽवेयै ।

सुधा—'पुत्र ! वत्स !' गुरौ = वसिष्ठे, भक्त्या = श्रद्धया, मयि = नन्दिन्याम्, अनुकम्पया = दयया, च = समुच्चयेऽर्थे, ते = तुभ्यं, प्रीता=प्रसन्ना, अस्मि = भवामि,

अहमिति शेषः। वरं वरणीयमर्थं, वृणीष्व=अङ्गीकुरु, त्वमिति शेषः। तथाहीति शेषः मां=नन्दिनीं, केवलानाम्=एकेषाम्, पयसां=क्षीराणाम्, प्रसूतिं=प्रसवित्रीं, न=नहि, अवेहि=जानीहि, किन्त्विति शेषः। प्रसन्नां=प्रीतां, मामिति शेषः। कामदुघां=काम्यप्रपूरयित्रीम्, अवेहीति शेषः।

समा०—कामान् दोग्धीति कामदुघा तां कामदुघाम्।

कोशः—'भक्तिः सेवागौणवृत्त्योर्भङ्ग्यां श्रद्धाविभागयोः' इति। 'कामः स्मरेच्छा काम्येषु' इति चाने०।

ता०—हे पुत्र! तेऽहं प्रसन्नाऽस्मि, अतस्त्वं वृणीष्व, तथाहि मां केवलानां दुग्धानां दात्रीं न जानीहि किन्तु कामधेनुदुहितृतया सकलाभीष्टदायिनीमपि जानीहि।

इन्दुः—हे पुत्र! वसिष्ठ महर्षि के विषय में भक्ति रहने से और मेरे विषय में दया रखने से मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। इसलिए तू वर माँग, और मुझे निरी दूध देने वाली गाय मत समझ किन्तु प्रसन्न होने पर अभिलाषों को पूरी करनेवाली भी जान ॥६३॥

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः।
वंशस्य कर्त्तारमनन्तकीर्त्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—तत इति। ततो मानितार्थी। स्वहस्तार्जितो वीर इति शब्दो येन, एतेनास्य दातृत्वं दैन्यराहित्यं चोक्तम्। स राजा हस्तौ समानीय सन्धाय। अञ्जलिं बद्ध्वेत्यर्थः। वंशस्य कर्त्तारं प्रवर्त्तयितारम्। अत एव रघुकुलमिति प्रसिद्धिः। अनन्तकीर्त्तिं स्थिरयशसं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे।

अ०—ततः, मानितार्थी, स्वहस्तार्जितवीरशब्दः, सः, हस्तौ, समानीय, वंशस्य, कर्त्तारम्, अनन्तकीर्तिं, तनयं, सुदक्षिणायां ययाचे। वा०—मानितार्थिना स्वहस्तार्जितवीरशब्देन तेन कर्त्राऽनन्तकीर्त्तिस्तनयो ययाचे।

सुधा—ततः=अनन्तरं, मानितार्थी=संमानितयाचकः, स्वहस्तार्जितवीरशब्दः=निजबाहुबललब्धवीरपदवीकः, सः=राजा दलीपः, हस्तौ=करौ, समानीय=एकत्र निधाय, वंशस्य=कुलस्य, कर्त्तारं=विधातारम्, अनन्तकीर्तिं=निरवधियशसं, तनयं=पुत्रं, सुदक्षिणायां=तदाख्यस्वमहिष्याम्, ययाचे=याचितवान्।

समा०—मानिता अर्थिनो येन स मानितार्थी। स्वस्य हस्तौ स्वहस्तौ ताभ्यामर्जितः, स्वहस्तार्जितः वीर इत्याख्यः शब्दो वीरशब्दः, स्वहस्तार्जितो वीरशब्दो येन स तथोक्तः। अविद्यमानोऽन्तोऽस्या इत्यनन्ता, अनन्ता कीर्त्तिर्यस्य सोऽनन्तकीर्त्तिस्तं तथोक्तम्।

कोशः—'अनन्तः केशवे शेषे पुमान् निरवधौ त्रिषु' इत्यमरः।

ता०—राजा दिलीपोऽञ्जलिं बद्ध्वा कुलप्रवर्त्तकं यशस्विनं पुत्रं प्रार्थितवान्।

इन्दुः—उसके बाद याचकों को सन्तुष्ट करनेवाले अपने हाथों से 'वीर' इस शब्द को प्राप्त करनेवाले उन राजा दिलीप ने दोनों हाथों को जोड़कर वंश को चलाने

वाले स्थिरकीर्तिशाली पुत्र 'अपनी रानी' सुदक्षिणा में होने की प्रार्थना की ॥ ६४ ॥

सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥ ६५ ॥

सञ्जी०—सन्तानेति। पयस्विनी गौः। सन्तानं कामयत इति सन्तानकामः, 'कर्मण्यण्' तस्मै राज्ञे तथेति। काम्यत इति कामो वरः। कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः। तं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय हे पुत्र! मदीयं पयः पत्रपुटे पत्रनिर्मिते पात्रे दुग्ध्वोपभुङ्क्ष्व। 'उपयुङ्क्ष्व' इति वा पाठः। 'पिब' इति तमादिदेशाज्ञापितवती।

अ०—सा, पयस्विनी, सन्तानकामाय, तस्मै, तथा, इति, कामं, प्रतिश्रुत्य, पुत्र! मदीयं' पयः, पत्रपुटे दुग्ध्वा, उपभुङ्क्ष्व, इति, तम्, आदिदेश।

वा०—तया पयस्विन्या 'त्वया' उपभुज्यतामिति स आदिदिशे।

सुधा०—सा=पूर्वोक्ता, पयस्विनी=प्रशस्तक्षीरवती, नन्दिनी। सन्तानकामाय= अपत्यार्थिने, तस्मै=राज्ञे, तथा=तेन प्रकारेण, यथाऽभिलषति भवांस्तथैव भवत्विति भावः। इति=उक्तस्वरूपं, कामं=काम्यं वरं, प्रतिश्रुत्य=प्रतिज्ञाय, 'पुत्र! =वत्स!, मदीयं=मामकं, पयः=क्षीरं, पत्रपुटे=पर्णनिर्मितपात्रे, दुग्ध्वा=दोहनं कृत्वा, उप-भुङ्क्ष्व=पिब', इति=इत्याकारकं, तम्=दिलीपम्, आदिदेश=आज्ञापयामास।

समा०—प्रशस्तं पयोऽस्या अस्तीति पयस्विनी तां तथोक्ताम्। पत्राणां पुटः पत्रपुटस्तस्मिंस्तथोक्ते ममेदं मदीयं तत्तथोक्तम्।

को०—'सन्तानोऽपत्यगोत्रयोः, सन्ततौ' इत्यनेकार्थसंग्रहः।

ता०—सा नन्दिनी दिलीपाय तथास्त्विति वरं प्रतिज्ञाय 'हे पुत्र! मदीयं दुग्धं पत्रनिर्मितपात्रे दुग्ध्वा पिबे'त्यादिदेश।

इन्दुः—उस उत्तम दूधवाली नन्दिनी ने पुत्र चाहनेवाले राजा दिलीप से 'वैसा ही हो' ऐसी वरदान की प्रतिज्ञा करके 'हे पुत्र! मेरे दूध को पत्ते के दोने में दुह कर पी लो' ऐसी उन्हें आज्ञा दी ॥ ६५ ॥

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः!।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥ ६६ ॥

सञ्जी०—वत्सस्येति। हे मातः! वत्सस्य वत्सपीतस्य शेषम्, वत्सपीतावशिष्ट-मित्यर्थः। होम एवार्थः, तस्य विधिरनुष्ठानं, तस्य च शेषम्। होमावशिष्टमित्यर्थः। तव, ऊधसि भवमूधस्यं तदेव औधस्यं क्षीरम्। 'शरीरावयवाच्च' इति यत्प्रत्ययः। रक्षिताया उर्व्याः षष्ठांशं षष्ठभागमिव। ऋषेरनुज्ञामधिगम्य उपभोक्तुमिच्छामि।

अ०—मातः! वत्सस्य, शेष, होमार्थविधेः, च, 'शेषं' तव, औधस्यं, रक्षितायाः, उर्व्याः, षष्ठांशम्, इव, ऋषेः, अनुज्ञाम् अधिगम्य, उपभोक्तुम्, इच्छामि।

वा०—हे मातः उर्व्याः षष्ठांश इव भोक्तुं मयेष्यते।

सुधा—मातः! =जननि! वत्सस्य=तर्णकस्य, शेषम्=अवशिष्टं, होमार्थ-

विधेः = हवनरूपप्रयोजनविधानस्य, च = समुच्चयेऽर्थे, शेषम् = अवशिष्टं, तव = भवत्याः, औधस्यम् = ऊधोभवं क्षीरम् । रक्षितायाः = पालितायाः, उर्व्याः=पृथिव्याः षष्ठांशं = षट्संख्यापूरकभागम्, इव=यथा, ऋषेः=वसिष्ठस्य, अनुज्ञाम्=आदेशम्, अधिगम्य = प्राप्य, उपभोक्तुम् = उपभोगं कर्तुम्, इच्छामि = कामये ।

समा०—होम एवार्थो होमार्थः, तस्य विधिर्होमार्थविधिः, तस्य तथोक्तस्य। ऊधसि भवमूधस्यं तदेवौधस्यम् । षण्णां पूरणः षष्ठः स चासावंशः षष्ठांशस्तं षष्ठांशम् ।

को०—'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इति । 'अंशभागौ तु वण्टके' इति चामरः ।

ता०—हे मातः ! वत्सपीतादवशिष्टमग्निहोत्राद्यवशिष्टञ्च ते क्षीरं निजभुजबलपालितायाः पृथिव्याः षष्ठांशरूपं करमिव गुरोर्वसिष्ठमहर्षेराज्ञां प्राप्य पातुमिच्छामि ।

इन्दुः—हे मां ! मैं बछड़े के पीने से तथा होमरूप प्रयोजन के अनुष्ठान (अग्नि होत्रादि) से बचे हुये तुम्हारे स्तनों से निकले हुए दूध को पालन की गई पृथ्वी के षष्ठांश (छठे भागरूप) की तरह ऋषि वसिष्ठ की आज्ञा प्राप्त करके पीना चाहता हूँ ॥ ६६ ॥

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥ ६७ ॥

सञ्जी०—इत्थमिति । इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठस्य धेनुः प्रीततरा पूर्वं शुश्रूषया प्रीता सम्प्रत्यनया विज्ञापनया प्रीततराऽतिसन्तुष्टा बभूव । तदन्विता तेन दिलीपेनान्विता हैमवताद्धिमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेर्गुहायाः सकाशादश्रमेणानायासेनाश्रमं प्रत्याययावागता च ।

अ०—इत्थं, क्षितीशेन, विज्ञापिता, वसिष्ठधेनुः, प्रीततरा, बभूव, तदन्विता, हैमवतात्, कुक्षेः, अश्रमेण, आश्रमम्, प्रत्याययौ, च ।

वा—विज्ञापितया वसिष्ठधेन्वा प्रीततरया बभूवे । तदन्वितयाऽऽश्रमः प्रत्यायये ।

सुधा—इत्थम्=अनेन प्रकारेण, क्षितीशेन=राज्ञा दिलीपेन, विज्ञापिता=निवेदिता वसिष्ठधेनुः = वसिष्ठमहर्षिगवी, प्रीततरा = प्रसन्नतरा, बभूव = आसीत्, तदन्विता= दिलीपयुक्ता, हैमवताद् = हिमवत्सम्बन्धिनः, कुक्षेः=गुहायाः सकाशात् । अश्रमेण= अनायासेन, आश्रमं=वासस्थानं, प्रत्याययौ = प्रत्याजगाम, च = अन्वाचयेऽर्थे ।

स०—वसिष्ठस्य धेनुर्वसिष्ठधेनुः । इयमनयोरतिशयेन प्रीतेति प्रीततरा । तेनान्विता तदन्विता। हिमोऽस्त्यस्मिन्निति हिमवान्, तस्यायं हैमवतस्तस्माद्धैमवतात् । न श्रम इत्यश्रमस्तेनाश्रमेण । को०—'आश्रमो व्रतिनां मठे । ब्रह्मचर्यादिचतुष्केऽपि' इत्येन० ।

या—इत्थं दिलीपेन निवेदिता नन्दिनी पूर्वापेक्षयाऽधिकतरं प्रसन्ना सती वसिष्ठाश्रमं प्रत्याजगाम ।

इन्दुः—इस प्रकार से राजा दिलीप के प्रार्थना करने से वसिष्ठ महर्षि की धेनु नन्दिनी अत्यन्त प्रसन्न हुई और दिलीप से युक्त होती हुई हिमालय की गुफा से विना परिश्रम के आश्रम की तरफ लौटी ॥ ६७ ॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—तस्या इति । प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य स नृपाणां गुरुर्दिलीपः प्रहर्षचिह्नै, मुखरागादिभिरनुमितमूहितं तस्या धेनोः प्रसादमनुग्रहं प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वात्पुनरुक्तयेव वाचा गुरवे निवेद्य विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंस । कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः । न चेह तदस्ति । किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वात्पुनरुक्तयेव स्थितयेत्युप्रेक्षा ।

अ०—प्रसन्नेन्दुमुखैः, नृपाणां, गुरुः, प्रहर्षचिह्नानुमितं, तस्याः, प्रसादं, पुनरुक्तया, इव, वाचा, गुरवे, निवेद्य, 'पश्चात्' प्रियायै, शशंस ।

वा०—प्रसन्नेन्दुमुखेन गुरुणा प्रहर्षचिह्नानुमितः प्रसादः शशंसे ।

सुधा—प्रसन्नेन्दुमुखः = स्वच्छचन्द्रवदनः, नृपाणां = राज्ञां, मध्य इति शेषः । गुरुः = श्रेष्ठः, दिलीपः, प्रहर्षचिह्नानुमितम् = उत्कटप्रमोदलक्षणतर्कितम् । तस्याः = नन्दिन्याः, प्रसादम् = अनुग्रहम्, प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञाततया पुनरुक्तया = भूयः कथितया, इव = यथा, वाचा = वचनेन, गुरवे = वसिष्ठाय, निवेद्य = विज्ञाप्य 'पश्चात्' प्रियायै = भार्यायै, शशंस = कथयामास ।

समा०—प्रसन्नश्चासाविन्दुः प्रसन्नेन्दुः स इव मुखं यस्य स तथोक्तः । प्रकृष्टा हर्षाः प्रहर्षास्तेषां चिह्नानि तैरनुमितः प्रहर्षचिह्नानुमितस्तं तथोक्तम् ।

कोश०:—'प्रसन्ना स्त्री सुरायां स्यात् स्वच्छसन्तुष्टयोस्त्रिषु' इति मे० । 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' इत्यमरः ।

ता०—अतिप्रसन्नो दिलीपः स्वकीयमुखरागादिभिः प्रसन्नताद्योतकचिह्नैः कथितप्रायं नन्दिन्या वरप्रदानरूपानुग्रहं पुनरुक्तमिव प्रथमं गुरवे पश्चात् सुदक्षिणायै निवेदयामास ।

इन्दुः—निर्मल चन्द्रमा की भाँति स्वच्छ मुखवाले राजाओं में श्रेष्ठ दिलीप ने अधिक प्रसन्नता के द्योतक मुख की लालिमा आदि चिह्नों से जिसका अनुमान हो रहा था, ऐसे उस नन्दिनी के वरदानरूपी अनुग्रह को हर्ष के जाननेवाले चिह्नों से कहने से पहिले ही मालूम हो जाने से दुबारा कही जाती हुई वाणी की भाँति गुरुजी से निवेदन किया पश्चात् प्यारी पटरानी सुदक्षिणा से भी कहा ॥ ६८ ॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः ॥ ६९ ॥

सञ्जी०—स इति । अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः सत्सु वत्सलः प्रेमवान्सद्वत्सलः । 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच्प्रत्ययः । वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः कृतानुमतिः स राजा वत्सस्य हुतस्य चावशेषं पीतेहुतावशिष्टं नन्दिन्याः स्तन्यं क्षीरं शुभ्रं मूर्त्तं परिच्छिन्नं यश इव । अतितृष्णः सन् पपौ ।

अ०—अनिन्दितात्मा, सद्वत्सलः, वसिष्ठेन, कृताभ्यनुज्ञः, स, वत्सहुतावशेषं, नन्दिनीस्तन्यं, शुभ्रं, मूर्त्तं, यशः, इव, अतितृष्णः, 'सन्' पपौ।

वा०—अनिन्दितात्मना सद्वत्सलेन कृताभ्यनुज्ञेन तेनातितृष्णेन पपे।

सुधा—अनिन्दितात्मा = अजुगुप्सितस्वभावः, सद्वत्सलः = साधुस्निग्धः, वसिष्ठेन = तदाख्यमहर्षिणा, कृताभ्यनुज्ञः = विहितनिर्देशः, सः = दिलीपः, वत्सहुतावशेषं = तर्णकहवनयोरवशिष्टम्, नन्दिनीस्तन्यं = वसिष्ठधेनुक्षीरम्। शुभ्रं = श्वेतं मूर्त्तं = मूर्त्तिमत्, यशः = कीर्त्तिम्, इव = यथा, अतितृष्णः=अतिशयपिपासितः, 'सन्' इति शेषः। पपौ = अपिबत्।

समा०—स्तने भवं स्तन्यं, नन्दिन्याः स्तन्यं नन्दिनीस्तन्यं तत्तोथोक्तम्। अनिन्दित आत्मा यस्य सोऽनिन्दितात्मा। वत्से पुत्रादिस्नेहपात्रेऽभिलाषोऽस्यास्तीति वत्सलः सत्सु वत्सलः सद्वत्सलः। वत्सश्च हुतञ्चेति वत्सहुते तयोरवशेषो वत्सहुतावशेषस्तं तथोक्तम्। कृताऽभ्यनुज्ञा यस्य स कृताभ्यनुज्ञः। अतिशयिता तृष्णा यस्य सोऽतितृष्णः।

कोशः—'स्निग्धस्तु वत्सलः'।'मूर्तःस्यास्त्रिषु मूर्च्छाले काठिन्ये मूर्तिमत्यपी'त्यमरसे०

ता०—दिलीपो गुरोराज्ञया नन्दिनीदुग्धं मूर्त्तिं दधद् धवलं यश इव सतृष्णः सन् पपौ।

इन्दुः—प्रशंसनीय स्वभाववाले, सज्जनों से प्रेम रखने वाले, वसिष्ठ महर्षि की आज्ञा को प्राप्त किये हुए, उन राजा दिलीप ने बछड़े के पीने से तथा अग्निहोत्र से बचे हुए नन्दिनी के दूध को सफेद मूर्तिको धारण किये हुये यश की भाँति अधिक तृष्णा से युक्त होते हुए पिया॥ ६९॥

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणाऽन्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः॥७०॥

सञ्जी०—प्रातरिति। वशी वसिष्ठः प्रातः यथोक्तस्य व्रतस्य गोसेवारूपस्यान्नभूना या पारणा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं प्रस्थानकाले भवं तत्कालोचितमित्यर्थः। 'कालाट्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः। 'यथा कथंचिद् गुणवृत्त्याऽपि काले वर्त्तमानत्वात् प्रत्यय इष्यते' इति वृत्तिकारः। ईयते प्राप्यतेऽनेनेत्ययनं स्वस्त्ययनं शुभावहमाशीर्वादं प्रयुज्य तौ दम्पती स्वां राजधानीं प्रति, प्रस्थापयामास।

अ०—वशी, वशिष्ठः, प्रातः, यथोक्तव्रतपारणाऽन्ते, प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं, प्रयुज्य, तौ, दम्पती, स्वां, राजधानीं, प्रति, प्रस्थापयामास।

वा—वशिना वसिष्ठेन प्रस्थापयाञ्चक्राते।

सुधा०—वशी, जितेन्द्रियः, वसिष्ठः = तदाख्यमहर्षिः, प्रातः = प्रभाते, यथोक्तव्रतपारणाऽन्ते=यथाकथितनियमान्तभोजनावसाने, प्रास्थानिकं=यात्राकालिकं, स्वस्त्ययनं=शुभदमाशीर्वादम्, प्रयुज्य=दत्वा, तौ=सुदक्षिणादिलीपौ, दम्पती=

जायापती, स्वाम् = आत्मीयां, राजधानीं प्रति = अयोध्यामुद्दिश्य, प्रस्थापयामास= प्रेषयामास ।

समा०—उक्तमनतिक्रम्येति यथोक्तं, यथोक्तं च तद् व्रतं यथोक्तव्रतं तस्य पारणा यथोक्तव्रतपारणा, तस्या अन्तो यथोक्तव्रतपारणाऽन्तस्तस्मिंस्तथोक्ते । प्रस्थाने भवं प्रास्थानिकम् । स्वस्ति क्षेमस्य अयनं तत्स्वस्त्ययनम् । धीयन्तेऽस्यामिति धानी, राज्ञां धानी राजधानी तां तथोक्ताम् । वशमिन्द्रियोपरि प्रभुत्वमस्यास्तीति वशी ।

कोशः—'यात्रा व्रज्याऽभिनिर्याणं प्रस्थानं गमनं गमः' इति । 'दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ' इति चामरः ।

ता०—वसिष्ठः प्रातःकाले आशीर्वादं दत्वा सुदक्षिणादिलीपौ अयोध्यां प्रति प्रस्थापयामास ।

इन्दुः—इन्द्रियों के ऊपर अपनी प्रभुता रखनेवाले (जितेन्द्रिय) वसिष्ठ महर्षि ने प्रातःकाल में पूर्वोक्त गोसेवा रूप व्रत की पारणा कर चुकने के बाद प्रस्थान-कालोचित स्वस्त्ययन करके उन दोनों स्त्री पुरुष सुदक्षिणा और दिलीप को उनकी राजधानी अयोध्या की तरफ भेजा ॥ ७० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥

सञ्जी०—प्रदक्षिणीकृत्येति । नृपो हुतं तर्पितं, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः । कर्मण्यण् । तं भर्तुर्मुनेरनन्तरम् प्रदक्षिणान्तरमित्यर्थः । अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य प्रगतो दक्षिणं 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' इत्यव्ययीभावः ततश्च्विः । अप्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य सद्भिर्मङ्गलाचारैरुदग्रतरप्रभावः सन् प्रतस्थे ।

अ०—नृपः, हुतं, हुताशं, भर्तुः अनन्तरम्, अरुन्धतीं, च, सवत्सां, धेनुं च, प्रदक्षिणीकृत्य, सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः 'सन्' प्रतस्थे ।

वा०—नृपेण सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावेण 'सता' प्रतस्थे ।

सुधा—नृपः=राजा, हुतं = प्राप्तहविषं, हुताशम्=अग्निम् भर्तुः = स्वामिनः, वसिष्ठस्येत्यर्थः, अनन्तरम् = पश्चात्, अरुन्धतीं = वसिष्ठभार्यां, च = समुच्चयेऽर्थे, सवत्सां = तर्णकसहितां, धेनुं = गां, च = समुच्चयेऽर्थे, प्रदक्षिणीकृत्य = परिक्रम्य, सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः = श्रेष्ठभद्रोच्छ्रिततरतेजाः, 'सन्' प्रतस्थे = प्रस्थानं कृतवान् ।

समा०—अविद्यमानमन्तरं यत्र तदनन्तरम् । बिभर्त्तीति भर्त्ता तस्य भर्त्तुः । वत्सेन सहिता सवत्सा तां सवत्साम् । सन्ति च तानि मङ्गलानि सन्मङ्गलानि अयमनयोरतिशयेनोदग्र इत्युदग्रतरः, सन्मङ्गलैरुदग्रतरः सन्मङ्गलोदग्रतरः स प्रभावो यस्य स तथोक्तः ।

कोशः—'भर्त्ता पोष्टरि धारके' इत्यने० । 'सन्साधौ धीरशस्तयोः' इति मे० ।

ता०—दिलीपो हुतमग्निं पत्नीसहितं वसिष्ठञ्च तथा सवत्सां धेनुमपि परिक्रम्य प्रदक्षिणादिभिः सन्मङ्गलाचारैः प्रवृद्धतेजाः 'सन्' राजधानीं प्रति जगाम ।

इन्दुः—राजा दिलीप ने आहुती दिये हुये अग्नि की और रक्षा करनेवाले वसिष्ठ जी की प्रदक्षिणा कर चुकने के बाद उनकी पत्नी अरुन्धती तथा बछड़े के सहित नन्दिनी की भी प्रदक्षिणा करके अच्छे मङ्गलमय प्रदक्षिणा आदि करने से बढ़े हुए तेज वाले होते हुये प्रस्थान किया ॥ ७१ ॥

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्धातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥

सञ्जी०—श्रोत्रेति । धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुर्व्रतादिदुःखसहनशीलः स नृपः श्रोत्राभिरामध्वनिना कर्णाह्लादकरस्वनेनानुद्धातः, पाषाणादिप्रतिघातरहितः, अत एव सुखयतीति सुखः, तेन रथेन स्वेन पूर्णेन सफलेन मनोरथेनेव मार्गमध्वानं ययौ । मनोरथपक्षे-ध्वनिः श्रुतिः । अनुद्धातः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ।

अ०—धर्मपत्नीसहितः, सहिष्णुः, सः, श्रोत्राभिरामध्वनिना, अनुद्धातसुखेन, रथेन, स्वेन, पूर्णेन, मनोरथेन, इव, मार्गं, ययौ ।

वा०—धर्मपत्नीसहितेन सहिष्णुना तेन मार्गो यये ।

सुधा—धर्मपत्नीसहितः = सुदक्षिणायुतः, सहिष्णुः=तितिक्षुः, सः=दिलीपः, श्रोत्राभिरामध्वनिना = कर्णानन्दप्रदनिनादेन, 'मनोरथपक्षे' कर्णानन्दप्रदाकर्णनेन । अनुद्धातसुखेन = स्खलनरहितशर्मकरेण, मनोरथपक्षे' प्रतिबन्धनिवृत्त्याऽत एव सुखकरेण रथेन = स्यन्दनेन, स्वेन = आत्मीयेन, पूर्णेन=सफलेन, मनोरथेन=अभिलाषेण, इव = यथा, मार्गं = पन्थानं, ययौ = जगाम ।

स०—श्रोत्रयोरभिरामः श्रोत्राभिरामः श्रोत्राभिरामो ध्वनिर्यस्य सः श्रोत्राभिरामध्वनिस्तेन तथोक्तेन ।धर्माय पत्नी धर्मपत्नी तया सहितो धर्मपत्नीसहितः । सहनशीलः सहिष्णुः सुखयतीति सुखः उद्धननमुद्धातः न उद्धातोऽनुद्धातस्तेन सुखोऽनुद्धातसुखस्तेनतथोक्तेन । मन एव रथोऽत्रेति मनोरथस्तेन तथोक्तेन ।

को०—'उद्धातस्तु पुमान् पादस्खलने समुपक्रमे' इति मेदिनी ।

ता०—पत्नीसहितो दिलीपः सुखप्रदेन रथेन निजेन सफलमनोरथेनेव मार्गमुल्लङ्घितवान् ।

इन्दु—धर्मपत्नी सुदक्षिणा के सहित व्रतादि-सम्बन्धी दुःखों के सहन करनेवाले उन राजा दिलीप के कानों को सुख देनेवाली है ध्वनि जिसकी तथा नीचे-ऊंचे पत्थरों की ठोकर से जिसमें से नहीं गिर सकता, अतएव सुखप्रद रथ से जो सुनने से कानों को सुख देनेवाला है तथा प्रतिबन्ध के दूर हो जाने से आनन्दप्रद है ऐसे अपने सफल हुये मनोरथ के समान रास्ता को तय करने लगे ॥ ७२ ॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥

सञ्जी—तमिति । अदर्शनेन प्रवासनिमित्तेनाहितौत्सुक्यं जनितदर्शनोत्कण्ठम् प्रजाऽर्थेन सन्तानार्थेन व्रतेन नियमेन कर्शितं कृशीकृतमङ्गं यस्य तम् । नवोदयं नवाभ्युदयं प्रजास्तृप्तिमनाप्नुवद्भिरतिगृध्नुभिर्नेत्रैः । ओषधीनां ना ं सोममिव तं राजानं पपुः, अत्यास्थया ददृशुरित्यर्थः । चन्द्रपक्षे = अदर्शनं कलाक्षयनिमित्तम् प्रजाऽर्थं लोकहितार्हं व्रतं देवताभ्यः कलादाननियमः (तं च सोमं पपुर्देवाः पर्याये णानुपूर्वशः) इति व्यासः । उदय आविर्भावः । अन्यत्समानम् ।

अ०—अदर्शनेन, आहितौत्सुक्यं, प्रजाऽर्थव्रतकर्शिताङ्गं, नवोदयं, प्रजाः, तृप्तिम्, अनाप्नुवद्भिः, नेत्रैः, ओषधीनां, नाथं, सोमम्, इव, तं पपुः ।

वा०—आहितौत्सुक्यः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गो नवोदयः प्रजाभिर्नाथ इव स पपे।

सुधा०—आदर्शनेन = अनवलोकनेन चन्द्रपक्षे कलाक्षजन्येनादर्शनेनेति यावद् । आहितौत्सुक्यम्=आस्थापितौत्कण्ठ्यं, प्रजाऽर्थव्रतकर्शिताङ्गं=सन्ततिप्रयोजनकनियमह्रसितगात्रं, चन्द्रपक्षे = लोकहितार्थदेवसम्बन्धिकलादानरूपनियमकृशीकृतगात्रं, नवोदयं = नवीनसमुन्नतिं, 'चन्द्रपक्षे' नवीनाविर्भावम् । प्रजाः=जनाः, तृप्तिं=तर्पणम्, अनाप्नुवद्भिः = अनधिगच्छद्भिः, अतिशयगर्धनैरिति भावः । नेत्रैः = नयनैः, ओषधीनां = फलपाकान्तव्रीहियवादीनां, नाथं = स्वामिनं, चन्द्रम् । इव = यथा, तं= राजानं, पपुः = पिबन्ति स्म, सापेक्षमवलोकयामासुरिति भावः ।

समा०—उत्सुकस्य भाव औत्सुक्यम्, आहितमौत्सुक्यं प्रजासु स्वदर्शनसम्बन्धि येन स आहितौत्सुक्यस्तं तथोक्तम् । न दर्शनमदर्शनम् तेनादर्शनेन । प्रजा एवार्थः प्रयोजनं यस्य तत्प्रजाऽर्थं तच्च तद् व्रतं प्रजाऽर्थव्रतं तेन कर्शितं प्रजार्थव्रतकर्शितं तद् अङ्गं यस्य स प्रजाऽर्थव्रतकर्शिताङ्गस्तं तथोक्तम् । नव उदयो यस्य स नवोदयस्तं नवोदयम् ।

कोशः—'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः । नूत्नश्च' इत्यमरः ।

ता०ः—प्रजार्थं गोसेवारूपव्रतेन कृशीकृतशरीरं तं दिलीपं सतृष्णैर्नेत्रैश्चन्द्रमिव ददृशुः।

इन्दुः—प्रवास होने के कारण नहीं देख पड़ने से 'चन्द्रपक्ष में' कला के क्षय हो जाने से नहीं दीख पड़ने से लोगों से देखने की उत्कण्ठा जिसने उत्पन्न करा दी है तथा पुत्र के लिए गोसेवारूप व्रत करने से जिनका शरीर कृश हो गया है, 'चन्द्रपक्ष में' लोक के हित के लिए देवताओं को अमृतरूपी कलाओं के दानरूपी नियम से जिनका नवीन आविर्भाव हुआ है, ऐसे ओषधियों के स्वामी चन्द्रमा की भाँति उन राजा दिलीप को प्रजाओं ने अतृप्त नेत्रों से देखा ॥ ७३ ॥

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥

सञ्जी०—पुरन्दरेति । पुरः पुरीरसुराणां दारयतीति पुरन्दरः शक्रः । 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खच्प्रत्ययः । 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति मुमागमो निपातितः । तस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य स नृपः पौरैरभिनन्द्यमानः । उत्पताकमुच्छ्रितध्वजम् । 'पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः । पुरं प्रविश्य भुजङ्गेन्द्रेण समानसारे तुल्यवले । 'सारो वले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीवं वरे त्रिषु' इत्यमरः । भुजे भूयो भूमेर्धुरमाससञ्ज स्थापितवान् ।

अ०—पुरन्दरश्रीः, सः, पौरैः, अभिनन्द्यमानः, उत्पताकम्, पुरं, प्रविश्य, भुजङ्गेन्द्रसमानसारे, भुजे, भूयः, भूमेः, धुरम्, आससञ्ज ।

वा०—पुरन्दरश्रिया तेन पौरैरभिनन्द्यमानेन धूराससञ्जे ।

सुधा०—पुरन्दरश्रीः = इन्द्रशोभः, स राजा दिलीपः, पौरैः=अयोध्यावासिजनैः अभिनन्द्यमानः अभितुष्यमाणः, सन्निति शेषः । उत्पताकम् = उच्छ्रितकेतनम्, पुरं =नगरम्, प्रविश्य=प्रवेशं कृत्वा, भुजङ्गेन्द्रसमानसारे=सर्पराजतुल्यबले, भुजे=बाहौ भूयः = पुनः, भूमेः=पृथिव्याः, धुरं=भारम्, आससञ्ज=आलम्बनं कृतवान् । अस्मिन सर्गे प्रारम्भत एतावच्छ्लोकावधि सर्वत्रोपजातिनामकं वृत्तं बोध्यं तल्लक्षणं यथा वृत्तरत्नाकरे—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ता' इति । तथा च क्वचित् क्वचित् उपेन्द्रवज्रे त्याख्ये वृत्त अपि दृग्गोचरीभवतस्तल्लक्षणे क्रमत ऊहनीये यथा–उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' इति ।'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति च।

समा०—पुरन्दरस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य पुरन्दरश्रीः । उच्छ्रिता पताका यस्मिंस्तदुच्छ्रितपताकं तत्तथोक्तम् । अभिनन्द्यतेऽसावित्यभिनन्द्यमानः । भुजाभ्यां गच्छन्तीति भुजङ्गास्तेष्विन्द्रो भुजङ्गेन्द्रस्तेन समानो भुजङ्गेन्द्रसमानः स सारो यस्य स भुजङ्गेन्द्रसमानसारस्तस्मिंस्तथोक्ते । को०—'श्रीर्लक्ष्म्यां सरलद्रुमे । वेषोपकरण वेषरचनायां सतौ गिरि । शोभा त्रिवर्गसम्पत्योः' इत्यने० ।

ता० पुरवासिप्रजाजनैः स्तूयमानः सन् स पुनः पृथिव्याः पालनरूपभारं धृतवान् ।

इन्दुः—इन्द्र के समान कान्ति वाले उन राजा दिलीप ने पुरवासियों से अभिनन्दन किये जाते हुए, जिसमें पताकायें फहरा रही थीं, ऐसे 'अयोध्या' नामक नगर में प्रवेश करके सर्पराज वासुकि के समान बल रखने वाले बाहु पर फिर पृथिवी के पालन रूप भार को धारण किया ॥ ७४ ॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥

सञ्जी०—अथेति । अथ द्यौः सुरवर्त्म 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः । अत्रेर्महर्षेर्नयनयोः समुत्थमुत्पन्नं नयनसमुत्थम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । ज्योतिरिव चन्द्रमिवेत्यर्थः । 'ऋक्षेशः स्यादत्रिनेत्रप्रसूतः' इति हलायुधः । चन्द्रस्यात्रिनेत्रोद्भ

तत्वमुक्तं हरिवंशे-'नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयद् दिशः । तद्गर्भं विधिना हृष्टा दिशो देव्यो दधुस्तदा ॥ समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् । स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रभान्वितः । पपात भासयँल्लोकाञ्छीतांशुः, सर्वभावनः ॥ इति । सुरसरिद् गङ्गा वह्निना निष्ठ्यूतं निक्षिप्तं 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यनेन निपूर्वात्ष्ठीवतेर्वकारस्य ऊठ् । 'क्षुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूताविक्षिप्तेद्धरिता समाः' इत्यमरः । ऐशं तेजः स्कन्दमिव । अत्र रामायणं-(ते गत्वा पर्वतं राम कैलासं धातुमण्डितम् । अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥ देवकार्यमिदं देव ! समाधत्स्व हुताशन ! शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज ॥ देवतायां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः । गर्भं धारय वै देवि ! देवतानामिदं प्रियम् ॥ इत्येतद्वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् । सा तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवकीर्य च ॥ समन्ततस्तु तां देवीमभ्यषिञ्चत पावकः । सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ! ॥ इति) राज्ञी सुदक्षिणा नरपतेर्दिलीपस्य कुलभूत्यै संततिलक्षणाय गुरुभिर्महद्भिर्लोकपालानामनुभावैस्तेजोभिरभिनिविष्टम्, अनुप्रविष्टं गर्भमाधत्त दधावित्यर्थः । अत्र मनुः-(अष्टानां लोकपालानां वपुधारयते नृपः इति । 'आधत्त' इत्यनेन स्त्रीकर्तृकधारणमात्रमुच्यते । तथा मन्त्रे च दृश्यते-(यथेयं पृथिवी मह्यमुत्ताना गर्भमादधे । एवं तं गर्भमाधेहि दशमे मासि सुतवे ॥) इत्याश्वलायनानां सीमन्तमन्त्रं स्त्रीव्यापारधारण आधानशब्दप्रयोगदर्शनादिति । मालिनी वृत्तमेतत् । तदुक्तम्—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणात् ।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनीसमाख्यया व्याख्यया समेते महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

अ०—अथ द्यौः, अत्रेः, नयनसमुत्थं, ज्योतिः, इव, सुरसरिद्, वह्निनिष्ठ्यूतम्, ऐशं, तेजः, इव, राज्ञी, नरपतिकुलभूत्यै, गुरुभिः, लोकपालानुभावैः, अभिनिविष्टं गर्भम्, आधत्त ।

वा०—अथ दिवा सुरसरिता, राज्ञा अभिनिविष्टो गर्भ आधीयत ।

सुधा—अथ = अनन्तरम्, द्यौः = व्योम, अत्रेः = तदाख्यमहर्षेः, नयनसमुत्थं = नेत्रोत्पन्नं, ज्योतिः = प्रकाशम्, चन्द्रम् । इव = यथा, सुरसरिद् = गङ्गा, वह्निनिष्ठ्यूतम् = अग्निक्षिप्तम्, ऐशम् = शङ्करसम्बन्धि, तेजः = रेतः, स्कन्दम । इव = यथा राज्ञी = राजपत्नी, नरपतिकुलभूत्यै=मनुष्येश्वरान्वयसम्पत्त्यै, गुरुभिः=श्रेष्ठैः, लोकपालानुभावैः = अष्टदिगीशांशैः, अभिनिविष्टम् = अनुप्रविष्टम्, गर्भं = भ्रूणम्, आधत्त=दधार । अस्मिन् पद्ये 'मालिनी' नाम वृत्तं, तल्लक्षणं यथा श्रुतबोधे—प्रथनमगुरुषट्कं विद्यते यत्र कान्ते ! तदनु च दशमं चेदक्षरं द्वादशान्त्यम् । करिभिरथ तुरङ्गैर्यत्र

कान्ते ! विरामः, सुकविजनमनोज्ञा मालिनी सा प्रसिद्धा' इति । अन्यच्चापि वृत्तरत्नाकरोक्तं लक्षणमेतज्ज्ञेयं तद्यथा—'ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः, इति तदुदाहरणं यथात्रैव ।

न	न	म	य	य
।।।	।।।	ऽऽऽ	।ऽऽ	।ऽऽ
अथन	यनस	मुत्थंज्यो	तिरत्रे	रिवद्यौः

समा०—नयनयोः समुत्थं नयनसमुत्थं तत्तथोक्तम् । सुराणां सरित् सुरसरित् वह्निना निष्ठ्यूतं वह्निनिष्ठ्यूतं तत्तथोक्तम् । ईशस्येदमैशं तदैशम् । नराणाम्पतिर्नरपतिस्तस्य कुलं नरपतिकुलं तस्य भूतिर्नरपतिकुलभूतिस्तस्यै तथोक्तायै । लोकं पालयन्तीति लोकपालास्तेषामनुभावा लोकपालानुभावास्तैस्तथोक्तैः ।

को०—'ज्योतिरग्नौ दिवाकरे । पुमान् नपुंसकं दृष्टौ स्यान्नक्षत्रप्रकाशयोः' इति मे० । 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इति । 'गर्भो भ्रूण इमौ समौ' इति चामरः ।

ता०—यथा व्योम चन्द्रं यथा गङ्गा शिवसम्बन्धि वीर्यं च दधार तथैव सुदक्षिणाऽपि दिलीपकुलस्थापनार्थं गर्भं धृतवती ।

इन्दुः—इसके बाद आकाश ने जैसे अत्रि मुनि के नेत्रों से उत्पन्न ज्योतिः स्वरूप चन्द्रमा को और देवनदी गङ्गाजी ने जैसे अग्नि से फेंके हुये शंकरसम्बन्धी (स्कन्द को पैदा करने वाले) वीर्य को धारण किया, उसी भाँति रानि सुदक्षिणा ने भी राजा दिलीप के कुल की 'सन्तान रूप' सम्पत्ति के लिये श्रेष्ठ लोकपालों के तेज से गर्भ को धारण किया ॥ ७५ ॥

इत्थं श्रीव्रजमोहनात्मजनुषा गोस्वामिविद्वद्वर-
श्रीदामोदरशास्त्रिशिष्यपदवीभाजाऽच्युतानुग्रहात् ।
श्रीब्रह्मान्वितशङ्करेण विहिता व्याख्या सुधाऽऽख्या नवा
पूर्तिं श्रीरघुवंशकाव्यसुभगे सर्गे द्वितीयेऽध्यगात् ॥

इति श्रीलश्रीरामचरित्रमणित्रिपाठिपोष्यपुत्र-श्रीव्राजमोहनि-पङ्क्तिपावन-
ब्रह्मशङ्करमिश्रेण कृतया सुधाव्याख्ययाऽन्विते रघुवंशे महाकाव्ये
नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥